प्रवचनमाला—१

आध्यात्मिक आलोक

प्रवचनकार—

आचार्य श्री श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा.

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन बीकानेर श्रावक संघ

बीकानेर (राजस्थान)

प्रकाशक—
केशरीचन्द सेठिया
मंत्री, श्री साधुमार्गी जैन वीकानेर श्रावक संघ
रांगड़ी मोहल्ला, वीकानेर (राजस्थान)

सम्पादक—डॉ० मनोहर शर्मा

प्रथमावृत्ति—१००० (वि. सं. २०३०, मिति आश्विन शुक्ला २)

मूल्य—१.५० रु. (एक रुपया, पचास पैसा)

मुद्रक—
भारत प्रिंटिंग प्रेस
सब्जीमण्डी, कोटगेट, वीकानेर

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

परम पूज्य पिताश्री की
पावन स्मृति
में



सुन्दरलाल तातेड़

श्रीमान् सेठ सतीदास जी सा. तातेड़

परम आदरणीय स्वर्गीय सेठ सतीदास जी सा. तातेड़ से मेरा अत्यन्त निकट का सम्पर्क रहा है। संघ के कई महानुभावों ने मुझ से आग्रह किया कि मैं स्व. श्री तातेड़ जी सा. के धर्मानुरागी जीवन एवं व्यक्तित्व पर कुछ प्रकाश डालूं। तदनुसार मैं उनके जीवन के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने का प्रयास कर रहा हूं।

श्रीमान् सेठ सतीदासजी सा. तातेड़ का जन्म बीकानेर में श्रीमान् सेठ मोतीलाल सा. तातेड़ की धर्मपत्नी श्रीमती सोहनीवाई की कुक्षि से वि. स. १९४९, मिति भाद्रपद कृष्णा ९ को हुआ। आप वाल्यकाल में ही श्रीमान् सेठ सरदारमलजी सा. तातेड़ के गोद आ गए।

श्रीमान् सतीदासजी सा. प्रातः, दोपहर और संध्या तीनों समय संतों के स्थान पर पहुँच कर सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं एवं व्याख्यान-श्रवण प्रभृति कार्यों में अपना समय व्यतीत करते थे। आपने १५ वर्ष की अवस्था में सचित्ताहार का त्याग एवं ३५ वर्ष की युवावस्था में सपत्नीक शीलव्रत अंगीकार करके अपनी त्यागोन्मुखी वृत्ति का प्रकाशमान आदर्श उपस्थित किया।

आप सरल, सौम्य, सेवाभावी और समाज में धार्मिक प्रवृत्तियों को वढ़वा देने के विविध कार्यों में सदैव सक्रिय रहते थे। साधु एवं साध्वियों की रुग्णता के समय उनके उपचार का प्रवंध करना, दया आदि धार्मिक कृत्यों को करवाना, जीवदया के लिए आर्थिक साधन जुटाना आदि आपकी प्रमुख प्रवृत्तियां थीं। गृहस्थावस्था में रह कर भी जीवनपर्यन्त धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहना आपकी धन के प्रति लालसाहीनता का द्योतन है।

अपने त्यागमय और प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण आप धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने में सदैव सफल रहे। आपने सेवा-भावना से समाज में अनेक उत्साही एवं कुशल कार्यकर्ता तैयार किए। समाजोन्नति में आपको वास्तविक आनंद की अनुभूति होती थी। ऐसी स्थिति में समाज ने आपको '**समाजभूषण**' पद से अलंकृत करके अपना सौभाग्य माना।

लगभग ७५ वर्ष की अवस्था में सं. २०२४, मिति आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को रात्रिकाल में करीब सवा ग्यारह बजे आलोयणा-सहित संथारापूर्वक आपने देहत्याग किया।

स्व. तातेड़जी सा. का सेवाभावी एवं धर्मप्राण व्यक्तित्व एक अनुकरणीय आदर्श है।

जेठमल सेठिया

बीकानेर
दि. २१-९-७३

प्रकाशकीय

संत-महात्माओं का किसी नगर में पधारना अत्यन्त मंगलसूचक होने के साथ ही उस नगर के लिए परम सौभाग्य का विषय भी होता है। परम श्रद्धेय चारित्र-चूड़ामणि, बाल-ब्रह्मचारी, समता-दर्शन-व्याख्याता आचार्य श्री श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. ने इस वर्ष चातुर्मास हेतु बीकानेर में विराजमान होकर यहां की जनता को कृपापूर्वक कृतार्थ किया है। ऐसा सुअवसर प्राप्त करके बीकानेर और उसके आसपास की जनता अत्यन्त आह्लादित हैं और स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करती है।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री के दैनिक कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग प्रात:कालीन प्रवचन है। आपका प्रत्येक प्रवचन प्रमुखत: आध्यात्मिकता एवं समता-दर्शन के प्रचार-प्रसार हेतु होता है और उसमें लोक-कल्याण की भावना ओतप्रोत रहती है। अत: बहुत बड़ी संख्या में श्रद्धालु भक्त इस कार्यक्रम में प्रतिदिन उपस्थित होकर ज्ञान एवं पुण्य-लाभ करते हैं।

परम श्रद्धेय अचार्यश्री के प्रवचन किसी एक समाज अथवा देश विशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण मानव-जाति में शांति तथा उदात्त भावनाओं का संचार करने की दृष्टि से होते हैं। ऐसी स्थिति में यह अनुभव किया गया कि आपके प्रवचनों को पुस्तक—रूप में प्रकाशित करके सर्वजन-सुलभ बनाया जाये, *जिससे कि सुदूर बैठे हुऐ व्यक्ति भी अपने जीवन को परिमार्जितकरने एवं* ऊंचा उठाने का अवसर प्राप्त कर सकें। फलत: आचार्यश्री के ९ प्रवचनों का प्रथम संग्रह 'आध्यात्मिक आलोक' के नाम से आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

संघ की ओर से मनोनीत प्रवचन-प्रचार-प्रसार समिति के संयोजक श्रीमान् सुन्दरलाल जी सा. तातेड़ ने इस पुस्तक को इतने अल्पकाल में पूरी साज-सज्जा के साथ प्रकाशित करने में जो श्रम किया है, उसके लिए तो आप हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं ही परन्तु साथ ही इस पुस्तक को अपने स्वर्गीय पिताश्री सेठ श्री सतीदास जी सा. तातेड़ की पावन-स्मृति में समर्पित करते हुए इसके प्रकाशन का संपूर्ण व्ययभार भी स्वयं ही वहन किया है, एतदर्थ आप और भी अधिक साधुवाद के पात्र हैं।

स्वर्गीय सेठ सतीदास जी सा. तातेड़ की सरलता, उदारता एवं सेवा-भावना सर्वविदित है, अतः आपके संबंध में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि आपने धर्म-साधना करते हुए समाज में एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है।

'श्रमणोपासक' के यशस्वी संपादक श्री देवकुमार जी जैन ने अपने अत्यंत व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकाल कर 'आध्यात्मिक आलोक' की प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया, एतदर्थ कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ हार्दिक आभार प्रकट किया जाता है।

'आध्यात्मिक आलोक' में संकलित प्रवचनों को आचार्य श्री जी म. सा. के विचार एवं भाषा को यथावत् रखने की पूरी चेष्टा के साथ संपादित किया गया है। सम्पादन कार्य हेतु डॉ० मनोहर शर्मा की सेवाएं प्राप्त करके हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, जिसके लिए आप हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन को सफल बनाने में सर्वश्री जेठमल जी सा. सेठिया, जुगराज जी सा. सेठिया, भीखणचन्द जी सा. भंसाली, कन्हैयालाल जी सा. मालू, भंवरलाल जी सा. वैद एवं पीरदान जी सा. पारख आदि सज्जनों का हमें विशेष प्रोत्साहन एवं सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हृदय से आभार स्वीकार किया जाता है।

इन प्रवचनों को प्रख्यात आशुलिपिक श्रीमान् धर्मपाल जी मेहता (अजमेर) नें लिपिबद्ध किया है, जिसके लिए आप हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री जी म. सा. के प्रवचन सदैव शास्त्र-सम्मत एवं साधु-भाषा में ही होते हैं परन्तु फिर भी इनके प्रकाशन, सम्पादन एवं मुद्रणादि में यदि कोई त्रुटि रह गई है तो उसके लिये हमारी ओर से क्षमा-प्रार्थना की जाती है।

केशरीचन्द सेठिया

मंत्री

श्री साधुमार्गी जैन बीकानेर श्रावक संघ

बीकानेर (राजस्थान)

बीकानेर

दि० २८-९-७३

प्रस्तावना

संसार का प्रत्येक प्राणधारी सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है। सुखी होना उसका परम लक्ष्य है। इसके लिये वह पूर्ण प्रयत्न करता है, साधन-सामग्री जुटाता रहता है, फिर भी लक्ष्य सिद्धि में असफल ही रह जाता है। इस स्थिति का मूल कारण है—आत्म-विस्मृति।

इस आत्म-विस्मृति के कारण—मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या प्रयत्न करना है और कौन-सा मार्ग मेरे लिये हितकर तथा सुखदायक है, इन बातों का उसे भान तक नहीं होता है। वह पर-पदार्थों में राग करता है और उनसे सुख पाने की चेष्टा करता है। लेकिन जब उनसे सुख प्राप्त नहीं होता है तो वह उनसे द्वेष करने लगता है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं और इन दोनों के आश्रय से प्राणी अत्यधिक चंचल होकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

सभी जीने की इच्छा रखते हैं। यह इच्छा केवल मनुष्य में ही नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों तक में भी पाई जाती है। वे भी जीवित रहना चाहते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि वर्तमान दैहिक-जीवन से आगे नहीं बढ़ती है और वे आगे या पीछे के जीवन के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते हैं। परिणामतः दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति की अभिलाषा होने पर भी वे हेयोपादेय का विवेक न होने से अपने-अपने क्षेत्र संबंधी सुख-दुःख भोगते रहते हैं।

इतना होने पर भी यह तो निर्विवाद है कि प्रत्येक प्राणी इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये लालायित रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति की लघुतम किरण सदैव उसके अंतरंग को प्रकाशित

करती रहती है, जिससे वह किसी भी विकटतम स्थिति में हेयोपादेय के विवेक द्वारा मोहोन्माद को उपशांत करने के प्रयत्न में जुट जाता है।

इस प्रकार जीने की इच्छा, सुखाभिलाषा और दुःख के प्रतिवाद की भावना में ही आध्यात्मिकता का बीज निहित है। इस आध्यात्मिक उत्कर्ष के द्वारा ही व्यक्ति बहिर्मुखता एवं वासनाओं से छूट कर शुद्ध चित् रूप आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यही यथार्थ धर्म है। इसके विकासोन्मुखी या विकसित रूप द्वारा ही समग्र सचेतन प्राणधारियों की प्रगति को आंका जा सकता है।

समस्त प्राणधारियों में मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। उसकी अपनी मौलिक विशेषतायें हैं, जो अन्य प्राणधारियों में नहीं पाई जाती हैं। मनुष्य-जाति में ही ऐसी विकास शक्ति है कि वह आध्यात्मिकता की अनुभूति और उसकी पूर्ण स्थिति प्राप्त करने की दिशा में प्रगति कर सकती है। उस विकास-शक्ति में कुछ ऐसी भी विचित्रता है कि कभी-कभी विकृत होकर वह उसे विपरीत दिशा में ले जाती है, जिससे कि वह पशु से भी निकृष्ट मालूम होती है। फिर भी एक बात निश्चित है कि आध्यात्मिक-वृत्ति की पूर्णता मानवीय-जीवन में ही सम्भव है। आध्यात्मिक विकास ही वास्तव में मानवता का मूल है।

आध्यात्मिक पवित्रता को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। आत्म-परकता का सिद्धांत ही उसके पृथक् अस्तित्व का मूलाधार है। मानव केवल भौतिक संपत्ति से ही संतुष्ट नहीं हो सकता है। सच्चा ऐश्वर्य आत्मिक है, भौतिक नहीं है। उसका उद्देश्य आत्म साक्षात्कार करना है। यही स्वतंत्रता है। असीम स्वतंत्रता में मुक्ति है।

शरीर, मस्तिष्क और आत्मा इन तीनों के स्वाभाविक सामंजस्य के निर्वाह से व्यक्ति सुखी हो सकता है। लेकिन आज के युग में आध्यात्मिक मूल्यों को भुला कर हम मस्तिष्क की उपलब्धियों पर अधिक जोर देने लगे हैं। इसी कारण हम दुखी हैं। हमारी आत्मिक

शक्तियां कम होती जा रही हैं तथा मस्तिष्क की उपलब्धियों का अनुपात भयोत्पादक सीमा तक पहुँच गया है। प्रत्यक्षतः हम पृथ्वी और आकाश को अपने अधिकार में मानते-से हैं, परमाणु और नक्षत्रों के रहस्य को समझने का दावा करते हैं किन्तु आशंकाओं से घिरे हुए हैं। अतः निश्चय ही कुछ ऐसा है, जो हम से छूट गया है।

आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अनेक लोगों का दृष्टिकोण हो गया है कि भौतिक ही सत्य है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध न की जा सकने वाली स्थापनाएं सही नहीं हैं। इसी प्रकार दुर्भाग्यवश विज्ञान की उपलब्धियों से आकृष्ट हमारे युग के कुछ नेता मानव को एक विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक और स्वयं-चालित इच्छाओं से निर्मित प्राणी समझते हैं। वे मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर तो जोर देते हैं, किन्तु उसके अन्तस् में उपस्थित उच्चतर पवित्रता को भूले-से लगते हैं। हमारे युग का सबसे भयंकर रोग है—आस्थाहीनता, जिससे हम आध्यात्मिक रूप से विस्थापित हैं और हमारी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ चुकी हैं।

अपने भौतिक वातावरण को काबू में रखने की हमारी असीमित क्षमता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं को जानना और स्वयं के साथ सम्बन्ध रखना है। विवेक की उपस्थिति ही हमारी मानवता की 'गारंटी' नहीं है। मानव बनने के लिये हमें विवेक के अतिरिक्त किसी और वस्तु की भी आवश्यकता है। मात्र विज्ञान को ही सभ्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वह सुदृढ़ नींव का निर्माण नहीं कर सकता है। हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियां हमारे शारीरिक स्वास्थ्य, समृद्धि और अवकाश में सहायक हो सकती हैं लेकिन हम उनका उपयोग क्या-कैसा कर रहे हैं?

संभाव्य विनाश को दूर करने के लिये आवश्यक है कि हम अपने आप में जीना सीखें। इसके लिये निश्चय ही आध्यात्मिकता की खोज करना होगा, मानवीय व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के कारण–भूत

तत्त्व का समादर करना होगा, स्वभाव में साहसिक रूप से व्याप्त मानवता की भावना को पाना होगा और मानव को उसके अंतस् की चेतना की ओर लौटना होगा। मानवीय चेतना का ध्यान रखना आवश्यक और अनिवार्य है। इस स्थिति में हम अंधकार से प्रकाश में पहुँचते हैं। जब आत्मा अपनी ही गहराइयों में अपने जीवन और सम्पूर्ण यथार्थ के आधार को प्राप्त कर लेती है, उस समय उसकी अनुभूति और आनंद को किसी भी भाषा में व्यक्त करना असम्भव है।

'प्राणीमात्र से प्रेम करो' ऐसा कहना और सुनना सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु प्रेम करने की क्षमता अर्जित करना अत्यन्त कठिन काम है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है, जो प्राणीमात्र से प्रेम करने की क्षमता प्राप्त करा सकता है। सत्य और ईमानदारी, पवित्रता और गंभीरता, दया और क्षमा जैसे गुण आत्मिक बोध और निस्पृहता से उत्पन्न होते हैं और इनके द्वारा ही आध्यात्मिक परिवर्तन सम्भव है। जब तक हमारी वासनाओं और अभिलाषाओं का हम पर शासन है, तब तक हम पड़ौसी ही क्या, प्राणीमात्र का अपमान करते रहेंगे, उन्हें शांति से नहीं रहने देंगे और अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों, लोलुपता एवं ईर्ष्या आदि से ग्रस्त रहेंगे। आत्मिक अनुभूति से शांति और जीवन-सौख्य की प्राप्ति होगी, 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' की भावना का सही रूप में प्रदर्शन होगा।

हम जिस संसार में अपने जीवन का निर्वाह कर रहे हैं, उसमें तीव्र वैमनस्य और उथल-पुथल है। विश्व-युद्धों और उनसे उत्पन्न अराजकता का कारण भी यही है कि युद्धों से मानव शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। वैज्ञानिक उपलब्धियों से दिग्भ्रांत होकर उसने उन आध्यात्मिक मूल्यों की ओर ध्यान देना बंद-सा कर दिया है।

विज्ञान आध्यात्मिकता का प्रतिपक्षी नहीं है। विज्ञान धर्म का विरोध नहीं करता है। लेकिन उसके प्रस्तुतीकरण का रूप और उससे प्राप्त परिणाम भयावह अवश्य हैं। विज्ञान के परिणामों को

अमंगलकारी उद्देश्यों की पूर्ति में लगाने से विज्ञान की आत्मा को ही दूषित कर दिया गया है। वैज्ञानिक शिक्षा का उद्देश्य मानव के दृष्टिकोण और रुचि को अधम व भौतिक कार्यों तक सीमित कर देना नहीं है। विज्ञान की ठीक समझ आत्मा के धर्म की सहायक है। विज्ञान स्वयं-चालित प्रक्रिया मात्र नहीं है और न ऐतिहासिक परिवर्तन का अज्ञात कारण। विज्ञान का विकास उन लोगों की बुद्धि का परिणाम है, जो ज्ञान, कौशल और मूल्यांकन की क्षमता रखते हैं। मानव परमाणु का भंजन इसीलिये कर सका कि उसके भीतर परमाणु से 'श्रेष्ठतर' का अस्तित्व है। भौतिक उपलब्धियां तो इसकी साक्षी मानी जायेंगी कि मानव-चेतना क्या-कुछ कर सकती है और क्या-क्या प्राप्त कर सकती है।

धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृति की एकता की पुष्टि करते हैं। प्रकृति की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय हमें उनकी व्यवस्था और सामंजस्य प्रभावित करते हैं और आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होता है। विज्ञान प्रयोग-सिद्ध है, अनुभव-सिद्ध है। वह रूढ़िवादी नहीं है, उदार है। धर्म भी प्रयोग और अनुभव-सिद्ध है। धार्मिक सत्यों का आधार है अनुभव परन्तु भौतिक संसार का नहीं, वरन् आत्मिक यथार्थ का अनुभव। विज्ञान के सिद्धांत भी अनुभव द्वारा प्रमाणित होते हैं। अनुभव का क्षेत्र केवल ऐन्द्रिय-अनुभव तक सीमित नहीं है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि भी अनुभव है। वैज्ञानिक सत्य के समान धार्मिक सत्य को भी अनुभव द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। मानव स्वभाव निर्विकार स्थिति प्राप्त कर ले तो आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान युग विकास का युग कहलाता है। परन्तु विकास के सही अर्थ को न समझ कर विकास की बातें होते देख कर विस्मय होता है। बाह्य संपदा की वृद्धि वास्तविक विकास नहीं है। लेकिन आज विकास से यही अर्थ लिया जाता है। विकास के दो प्रकार हैं–

तत्त्व का समादर करना होगा, स्वभाव में साहसिक रूप से व्याप्त मानवता की भावना को पाना होगा और मानव को उसके अंतस् की चेतना की ओर लौटना होगा। मानवीय चेतना का ध्यान रखना आवश्यक और अनिवार्य है। इस स्थिति में हम अंधकार से प्रकाश में पहुँचते हैं। जब आत्मा अपनी ही गहराइयों में अपने जीवन और सम्पूर्ण यथार्थ के आधार को प्राप्त कर लेती है, उस समय उसकी अनुभूति और आनंद को किसी भी भाषा में व्यक्त करना असम्भव है।

'प्राणीमात्र से प्रेम करो' ऐसा कहना और सुनना सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु प्रेम करने की क्षमता अर्जित करना अत्यन्त कठिन काम है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है, जो प्राणीमात्र से प्रेम करने की क्षमता प्राप्त करा सकता है। सत्य और ईमानदारी, पवित्रता और गंभीरता, दया और क्षमा जैसे गुण आत्मिक बोध और निस्पृहता से उत्पन्न होते हैं और इनके द्वारा ही आध्यात्मिक परिवर्तन सम्भव है। जब तक हमारी वासनाओं और अभिलाषाओं का हम पर शासन है, तब तक हम पड़ौसी ही क्या, प्राणीमात्र का अपमान करते रहेंगे, उन्हें शांति से नहीं रहने देंगे और अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों, लोलुपता एवं ईर्ष्या आदि से ग्रस्त रहेंगे। आत्मिक अनुभूति से शांति और जीवन-सौख्य की प्राप्ति होगी, 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' की भावना का सही रूप में प्रदर्शन होगा।

हम जिस संसार में अपने जीवन का निर्वाह कर रहे हैं, उसमें तीव्र वैमनस्य और उथल-पुथल है। विश्व-युद्धों और उनसे उत्पन्न अराजकता का कारण भी यही है कि युद्धों से मानव शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। वैज्ञानिक उपलब्धियों से दिग्भ्रांत होकर उसने उन आध्यात्मिक मूल्यों की ओर ध्यान देना बंद-सा कर दिया है।

विज्ञान आध्यात्मिकता का प्रतिपक्षी नहीं है। विज्ञान धर्म का विरोध नहीं करता है। लेकिन उसके प्रस्तुतीकरण का रूप और उससे प्राप्त परिणाम भयावह अवश्य हैं। विज्ञान के परिणामों को

अमंगलकारी उद्देश्यों की पूर्ति में लगाने से विज्ञान की आत्मा को ही दूषित कर दिया गया है। वैज्ञानिक शिक्षा का उद्देश्य मानव के दृष्टिकोण और रुचि को अधम व भौतिक कार्यों तक सीमित कर देना नहीं है। विज्ञान की ठीक समझ आत्मा के धर्म की सहायक है। विज्ञान स्वयं-चालित प्रक्रिया मात्र नहीं है और न ऐतिहासिक परि-वर्तन का अज्ञात कारण। विज्ञान का विकास उन लोगों की बुद्धि का परिणाम है, जो ज्ञान, कौशल और मूल्यांकन की क्षमता रखते हैं। मानव परमाणु का भंजन इसीलिये कर सका कि उसके भीतर परमाणु से 'श्रेष्ठतर' का अस्तित्व है। भौतिक उपलब्धियां तो इसकी साक्षी मानी जायेंगी कि मानव-चेतना क्या-कुछ कर सकती है और क्या-क्या प्राप्त कर सकती है।

धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृति की एकता की पुष्टि करते हैं। प्रकृति की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय हमें उनकी व्यवस्था और सामंजस्य प्रभावित करते हैं और आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होता है। विज्ञान प्रयोग-सिद्ध है, अनुभव-सिद्ध है। वह रूढ़िवादी नहीं है, उदार है। धर्म भी प्रयोग और अनुभव-सिद्ध है। धार्मिक सत्यों का आधार है अनुभव परन्तु भौतिक संसार का नहीं, वरन् आत्मिक यथार्थ का अनुभव। विज्ञान के सिद्धांत भी अनुभव द्वारा प्रमाणित होते हैं। अनुभव का क्षेत्र केवल ऐन्द्रिय-अनुभव तक सीमित नहीं है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि भी अनुभव है। वैज्ञानिक सत्य के समान धार्मिक सत्य को भी अनुभव द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। मानव स्वभाव निर्विकार स्थिति प्राप्त कर ले तो आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान युग विकास का युग कहलाता है। परन्तु विकास के सही अर्थ को न समझ कर विकास की बातें होते देख कर विस्मय होता है। बाह्य संपदा की वृद्धि वास्तविक विकास नहीं है। लेकिन आज विकास से यही अर्थ लिया जाता है। विकास के दो प्रकार हैं–

शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास तो मनुष्यों में ही नहीं, पशु-पक्षियों तक में भी देखा जाता है। खान-पान, स्थान आदि की पूरी सुविधा मिले और चिन्ता-भय न रहे तो पशु-पक्षी भी बलवान और पुष्ट हो जाते हैं। लेकिन मनुष्यों और पशु-पक्षियों के शारीरिक विकास का अंतर ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य का शारीरिक विकास केवल खान-पान और रहन-सहन आदि की पूरी सुविधा और निश्चिन्तता से ही सिद्ध नहीं हो सकता है। मनुष्य के शारीरिक विकास के पीछे पूरा बुद्धि-योग हो, तभी वह समुचित रूप से सिद्ध हो सकता है अर्थात् मनुष्य का पूर्ण और समुचित विकास (शारीरिक और मानसिक) व्यवस्थित और जागृत बुद्धियोग की अपेक्षा रखता है। मानव-जाति की महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि उसे साहसिक भाव को धारण करने या पैदा करने की सामर्थ्य या योग्यता प्राप्त है, जो विकास का, असाधारण विकास का मुख्य साधन है। इसी मुख्य साधन को विकसित करने के लिये आध्यात्मिक-आलोक की ओर अग्रसर होने की महती आवश्यकता है और उसी की साधना में मानव-जीवन की कृतार्थता है।

लेकिन आज मानसिक विकास के मूलाधार बौद्धिक-आध्यात्मिक चिन्तन की उपेक्षा कर संसार को ही सब कुछ माना जा रहा है तो फिर विकास हो कैसे? बिना बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है। आंखों में पदार्थों को देखने की शक्ति न हो तो उन्हें देखा नहीं जा सकता है। यह संसारोन्मुखी वृत्ति अर्थात् इन्द्रियों से दिखाई देने वाले नाशवान् मनोहारी दृश्यों के प्रति आकर्षित होना प्रेयमार्ग है। इसी से मानवीय मस्तिष्क में विकृति है और आत्मा रोगग्रस्त है। शाश्वत के प्रति आस्थाहीनता ही विषम व्याधि है। यही विश्व में अशांति का कारण है एवं यही विषमता की जड़ है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। यदि वह अपनी शक्तियों को न देख कर केवल बाह्य आकृतियों से उल्लसित होती है, बाह्य दृष्टि ही उसके

लिये मूल्यांकन की कसौटी है एवं नाशवान् तत्त्वों की ओर आकर्षण— है तो उसे सत्-चित्-आनंदघन की अनुभूति नहीं हो सकती है ।

आध्यात्मिक चिन्तन-मनन और आत्मा तथा परमात्मा की चर्चा-वार्ता आदि विषय मात्र धर्मस्थानों तक ही सीमित नहीं हैं। ये तो तिल में तेल की तरह सार्वकालिक हैं, प्रतिक्षण के जीवन के अंग हैं। इनके स्वर को सुनिये। आध्यात्मिक-चिन्तन सर्वजनहिताय है, सब जीवों के कल्याण के लिये है। यह सबके मन को पवित्र बना कर अन्तर्ज्योति जगाता है। आध्यात्मिक जागृति का कार्य वस्तुत: श्रेष्ठतम कार्य है परन्तु इसके लिये वही व्यक्ति तत्पर हो सकता है, जो जिज्ञासु है।

व्यक्ति के जीवन की आधारशिला आध्यात्मिक-परम्परायें हैं। भौतिक उपलब्धियां व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य, भौतिक समृद्धि और अवकाश की अभिवृद्धि में सहायक हो सकती हैं लेकिन इतने मात्र से ही व्यक्ति का अस्तित्व सार्थक नहीं माना जा सकता है। उसके लिये आवश्यकता है—आत्मानुशासन की, आत्मकेन्द्रित होने की और आध्यात्मिक प्रवृत्ति की।

पूर्वोक्त वक्तव्य का आधार परम श्रद्धेय आचार्यश्री जी म० सा० के प्रवचन हैं। अपनी बौद्धिक क्षमता से जिस रूप में और जितने अंशों में आचार्यश्री जी के भावों और विचारों को समझ पाया हूँ, उन्हें एक सूत्रधार की तरह अपने शब्दों में यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परम पूज्य आचार्यश्री जी के प्रवचनों के भावों और विचारों को अपने शब्दों में अंकित करना दुस्साहस ही माना जायेगा और है भी। परन्तु इस प्रयास का कारण है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति, तच्चाम्र-चारुकलिका- निकरैकहेतु: ॥

'आध्यात्मिक आलोक' में संकलित सभी प्रवचन, विभिन्न प्रसंगों की व्याख्या करते हैं परन्तु इनका समग्र–स्वर आध्यात्मिक विकास,

आध्यात्मिक उपलब्धि और 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' के संदेश को मुखरित करता है।

पुस्तक के आद्योपान्त पढ़ने से यही अनुभव होता है मानों वक्ता की वाणी ही श्रवण कर रहे हैं। इसमें आचार्यश्री जी के भाव एवं भाषा-शैली की सुरक्षा का पूर्णरूपेण ध्यान रखा गया है।

प्रस्तावना-लेखन के माध्यम से आचार्यश्री जी म० सा० के चरणारविन्दों में श्रद्धा प्रकट करने का सुअवसर प्रदान करने के लिये श्री साधुमार्गी जैन बीकानेर श्रावक संघ, बीकानेर का कृतज्ञ हूं।

बीकानेर
सं० २०३०, आश्विन शुक्ला द्वितीया
दि० २८-९-७३

विनयावनत,
देवकुमार जैन

सम्पादकीय

'आध्यात्मिक आलोक' में परम पूज्य आचार्यश्री नानालाल जी म. सा. के बीकानेर-चातुर्मास की अवधि में दिये गये प्रवचनों में से ६ प्रवचन संकलित किये गये हैं। इन सब प्रवचनों का मूलाधार आध्यात्मिक-जीवन की अनुभूति अथवा समता-दर्शन का प्रकाशमान स्वरूप है। अतः पुस्तक का नामकरण तदनुसार ही निर्णीत हुआ है।

संत-महात्माओं के प्रवचनों का सम्पादन एक विशेष उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य है क्योंकि उनका प्रत्येक वाक्य अर्थगंभीर एवं अनुभूतिपूर्ण होता है। ऐसी परिस्थिति में इन प्रवचनों का सम्पादन करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि परम श्रद्धेय आचार्यश्री के विचार ही नहीं, अपितु आपकी भाषा-शैली भी यथावत् ही रहे। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में यदि कोई त्रुटि रह गई है तो उसके लिए विनम्र भाव से क्षमा-याचना की जाती है।

बीकानेर (राजस्थान) मनोहर शर्मा

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, विक्रम सं० २०३०

अनुक्रमणिका

आध्यात्मिक आलोक

सुख-प्राप्ति का साधन

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे,

अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।

श्रेयांसनाथ परमात्मा के चरणों में श्रेयमार्ग की संसिद्धि की भावना और जिज्ञासा के साथ प्रार्थना की पंक्तियों के उच्चारण का प्रसंग आया है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मा की जब आत्मा के समक्ष भावों की दृष्टि से अभिव्यक्ति होती है, तब वे मानों अन्तर्यामी बन जाते हैं और वर्षों से सोई हुई आंतरिक चेतना सक्रिय होकर उठने की स्थिति में आती है।

इस आत्मस्वरूप को समझाने के लिए वीतराग-वाणी के माध्यम से विविध रूप में प्रयास किए जा रहे हैं, ताकि इस प्रयास को हम जीवन में मूर्त्तरूप देकर अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकें।

आज का यह विराट विश्व अनेक प्रकार की उलझनों में उलझा हुआ है और अनेक आंतरिक स्थितियों में अपनी अन्तश्चेतना का हनन कर रहा है। इन विकट परिस्थितियों में यदि कोई प्रकाशस्तम्भ हैं, यदि कोई अवलंबन हैं और यदि इस जीवन को आगे बढ़ाने के लिए कोई आदर्श हैं तो वे सिद्ध परमात्मा ही हैं। उन परमात्मा के स्वरूप को हम दूर से न देखें परन्तु अपनी अंतरंग स्थिति में देखें। आश्चर्य इस बात का है कि उस सन्निकट स्वरूप को भी आत्मा देख नहीं पा रही है और आत्मा से कोसों दूर रहे तत्त्व को वह अपने समीप मान रही है। यह बड़ी विचित्र दशा है।

बंधुओ! जिस घर में पवित्र निधि भरी हुई है और जिसके

लिए बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं है, उस पर तो व्यक्ति दृष्टि नहीं डाल रहा है और जहां निधि नहीं है तथा निधि का सिर्फ भ्रम हो रहा है, उसके पीछे वह मृग की तरह भटकता है। जैसे कस्तूरी-मृग को अपनी नाभि में से कस्तूरी की सुगंध आती है, तब उसका मन छटपटाने लगता है कि यह सुगंध बड़ी अच्छी है; यह कहां से आ रही है ? उस वक्त वह सोचता है कि इस जंगल में अवश्य ही कोई खान होगी, जहां से यह सुगंध आ रही है। मैं अपनी शक्ति लगाकर उस खान को खोज लूं और तब झाड़ियों में इधर-उधर छलांग लगाता हुआ वह मृग जंगल में भटकता है। परन्तु झाड़ियों अथवा पहाड़ियों के बीच में वह सुगंध नहीं मिल पाती। वह नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे अथक परिश्रम करके आखिर में थक जाता है और म्लानता का अनुभव करने लगता है। परन्तु फिर भी उसको सुगंध की खान नहीं मिल पाती। उस मृग को इस बात का भान नहीं है कि कस्तूरी की वह सुगंध पहाड़ों की झाड़ियों या चट्टानों में नहीं है, अपितु अपने में ही है। इस ज्ञान के अभाव में अपने में ही रहने वाली कस्तूरी को वह प्राप्त नहीं कर पाता और उसकी तलाश में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। क्या यही अवस्था आज के मानव की भी नहीं हो रही है ?

मानव की आत्मा आंतरिक सुख की सुगंध प्राप्त करने के लिए यदा-कदा बाहर के भौतिक पदार्थों के आकर्षण से प्रभावित होती है और सोचती है कि ऐसे सुख की महक इनसे मिल जाएगी। अतः उसको ढूंढ़ने के लिए वह आकाश-पाताल एक कर रहा है। उसने वन प्रदेश ढूंढ़े, समुद्र की गहराई में वह पहुंचा, परन्तु उसे वह नहीं मिली। फिर मानव ने सोचा कि आकाश में उड़ूं। ऐसा सोचकर ही वह नहीं रहा और वह उड़ चला। वह तथाकथित चन्द्रलोक और मंगल आदि के ऊपर पहुंचने के भरसक प्रयत्न कर रहा है। लेकिन आप यह सुनिश्चित रूप से मान कर चलिए कि भौतिक दृष्टि से यह वैज्ञानिक उपलब्धि हो सकती है, परन्तु आत्मा की वह पवित्र महक, वह सुगंध उसे कभी

नहीं मिल सकती है।

आज का चिंतक, आज का विचारक और आज का युवक वैज्ञानिक उपलब्धियों को देखकर चकित हो रहा है और सोच रहा है कि विज्ञान कहां से कहां पहुंच गया। आज विज्ञान ने दुनिया को नाप लिया है और सोचता है कि इस संसार में वही सब कुछ है। आत्मा और परमात्मा की वार्ता तो धर्मस्थानों तक ही सीमित है। लोग सोचते हैं कि हमको तो विज्ञान की ओर बढ़ने में ही सुख मिलेगा, धर्मस्थानों की ओर जाने से नहीं।

इस प्रकार की भ्रांत धारणा एवं गलत विश्वास आधुनिकता के लक्षणों के साथ-साथ आज के वायुमण्डल में व्याप्त-से हैं। यही कारण है कि आज के मानव को जिस महत्त्वपूर्ण स्थान पर योगदान करना चाहिए, वहां तो वह नहीं कर रहा है और जहां शक्ति के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं, वहां वह शक्ति से भी अधिक कार्य कर रहा है। वह सोच रहा है कि मुझ को अमुक स्थान पर कुछ-न-कुछ मिलेगा। परन्तु उसे इस प्रकार कुछ भी सुख-शांति प्राप्त होने वाली नहीं है।

आज जितना विज्ञान का विकास हुआ है, क्या मानव को उतनी आत्मशांति भी मिली? या केवल अशांति ही प्राप्त हुई? आप अपने अन्तःकरण को टटोलिए। आप कस्तूरी-मृग की तरह भ्रमित न होइए। मृग तो पशु कहलाता है। उसमें मानवीय बुद्धि का अभाव है। आत्मशक्ति के समान होने पर भी विकास के योग्य जो बौद्धिक माध्यम होना चाहिए, वह उसके पास नहीं है। वह मानव के पास ही है। फिर भी आज का मानव इसका दुरुपयोग कर रहा है। वह इसके सदुपयोग की तरफ लक्ष्य नहीं दे रहा है।

जैसे कहीं पर आग लगी है और आग को बुझाने के लिए कोई व्यक्ति हल्ला मचा रहा है कि यहां आग लग रही है। वह उसको बुझाने के लिए पानी की खोज भी करता है। किन्तु वह नाचता-कूदता आग के पास जाता है और उसे शांत करने के लिए पानी का प्रयोग तो नहीं

करता, लेकिन उसमें ऐसा ईंधन डालता है, जिससे आग शांत होने के बजाय और भी भड़क उठती है। ऐसा करके वह व्यक्ति अपनी बुद्धि का, शक्ति का सदुपयोग कर रहा है या दुरुपयोग कर रहा है? इस तरह का कार्य करने वाले के लिए आप क्या कहेंगे? परन्तु वही मनुष्य यदि एकांत के क्षणों में बैठकर अपना, स्वयं का चिन्तन करे, निरीक्षण करे और सोचे कि मैं क्या कर रहा हूं, मैं ईंधन डाल कर आग को प्रज्वलित कर रहा हूं या उसे बुझाने का उपाय कर रहा हूं? उस स्थिति में मानव को अपनी दशा अत्यंत दयनीय ही प्रतीत होगी। भले ही मृग की तो पशु कह कर उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु आज के मानव को देखिये कि वह कैसी विषम परिस्थिति में चल रहा है। वह अपनी मानवता को भुला कर दानवता का तांडव नृत्य कर रहा है। ऐसे मानव के लिए आध्यात्मिक-चिन्तन ही सहायक हो सकता है। इधर-उधर भटकने से शांति प्राप्त नहीं हो सकती।

मैं प्रत्येक भाई-बहिन को सावधानीपूर्वक याद दिलाता हूं कि आप इस तथ्य को समझें और आत्मा तथा परमात्मा की सुगंध की इन बातों को निरर्थक या केवल वृद्धों के लिए ही न मानें। जिनकी अवस्था जर्जरित हो गई है, जो वृद्ध हो गए हैं और कार्य करने में समर्थ नहीं हैं, वे इस कार्य को करेंगे, ऐसी कल्पना भी आप न कीजिए। वे वृद्ध कुछ नहीं कर पाएंगे। यदि आप वस्तुतः आत्मिक-सुख और शांति चाहते हैं तो आत्म-चेतना को दैदीप्यमान बनाना होगा।

आज का मानव इस भौतिक उड़ान में न लगता हुआ और इन उड़ानों को ही उड़ान न समझता हुआ, जीवन में वास्तविक सुख की सुगंध को ढूंढेगा तो इस विषम परिस्थिति में भी वह सच्चे सुख की खोज कर सकेगा।

आत्मिक स्वरूप को पहिचानने के लिए धर्मस्थान की पावन भूमि में प्रवेश कीजिए। धर्मस्थान की पावन भूमि ये दीवारें, ये कपाट आदि नहीं हैं। वह पावन भूमि तो हृदय है, जिस पर कर्मों के आवरण रूप किवाड़ लगे

हुए हैं। यदि उन्हें खोलकर आप धर्मस्थान में प्रवेश करेंगे, आत्मा के अंदर उस प्रकाश-पुंज को देखने का प्रयास करेंगे तो आप अनुभव करेंगे कि इस लोक में उस प्रकाश की नितांत आवश्यकता है। आप सोचेंगे—अरे, हमने सारी जिन्दगी यों ही खो दी और यही हमारे दुःख का कारण रहा ! यदि हम पहिले से ही यानि बाल्यावस्था से ही भीतर की ओर मुड़ जाते तो इस तथ्य को समझने में सफल हो सकते थे कि इस जीवन का यदि कोई सारतत्त्व है तो वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि ही है। इस उपलब्धि के लिए प्रारम्भ से ही हम इस वर्णमाला की ओर बढ़ते तो युवावस्था की ओर बढ़ते-बढ़ते बाह्य विषयों और इन्द्रियों के लुभावने दृश्यों में न पड़ कर युवावस्था में इस दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर लेते। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया तो अब यह परिस्थिति तभी बन सकेगी, जब कि आप धर्मद्वार (हृदय) को अन्दर से खोलेंगे।

आप वास्तविक धर्म को समझिए। धर्म का संक्षिप्त स्वरूप तो यही है—जो सर्वजनहिताय है, जो सब जीवों के कल्याण के लिए है, जो सबको शांति की सांस लेने देता है, सबको आश्रय देता है और सबके मन को पवित्र बना कर अंतर्ज्योति जगाता है।

तरुण-वर्ग को यदि सही धर्म का स्वरूप समझ में आ जाए तो वर्तमान में बढ़ रही स्वच्छंदता, उच्छृंखलता स्वयमेव शांत हो जाए। फिलहाल तो वे अपने वर्तमान जीवन में साथ रहने वाले मन की शक्ति, तन का बल, वाणी की कला और बुद्धि की निधि को सिर्फ इन नाशवान् पदार्थों को बटोरने में ही लगा रहे हैं, चंद चांदी के टुकड़ों को संग्रह करने में ही लगा रहे हैं। परन्तु वे कुछ दिन भले ही ऐसा कर लें, आखिर ये कितने दिन साथ रहने वाले हैं ? यदि आपने इन योगों को इस तरफ लगा दिया, इस जीवन की तीन धाराओं (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) को अपने पास में रखा और युवावस्था का योग दे दिया तो अवश्य ही आपका यह वर्तमान जीवन भी स्वर्गीय आनन्द से आप्लावित हो जायेगा।

यह उधार धर्म नहीं है। यह धर्म सिर्फ वृद्धों के लिए ही नहीं है। यह तत्त्व तो हरएक प्राणी के लिए है। आज बहुतेरे लोग समझते हैं कि हम जो धर्म-करनी करते हैं, यह इस जीवन में नहीं, आगे के जीवन में काम में आएगी। परन्तु मैं कहूंगा कि यदि आपने अन्दर के कपाट को खोल कर धर्म में प्रवेश पा लिया तो आप समझ लीजिए कि आपका कल ही नहीं, आज भी सुन्दर बनेगा। कल के लिए तो आपका सब कुछ सुरक्षित है ही, परन्तु उसके पहिले आपका यह लोक भी सुखकर बनेगा।

वर्तमान युग में आप बड़े-बड़े धनवान देखते हैं और सोचते हैं कि इनके पास अपार संपत्ति है। हो सकता है कि वे धनवान भी अपनी संपत्ति को असाधारण ही समझते हों, परन्तु अब जरा प्राचीनकाल के इब्ब सेठों की स्थिति पर ध्यान दीजिए। आज के धनपतियों की संपदा उनके वैभव के आगे कुछ भी नहीं है। इतना धन तो उनको नजर में भी नहीं आता था।

ऐसे ही एक प्राचीन इब्व सेठ के पुत्र जम्बुकुमार ने युवावस्था में प्रवेश किया। उस समय उसका आठ सुन्दर कन्याओं के साथ सगाई-सम्बन्ध हो चुका था और विवाह का प्रसंग सामने था। यह एक ऐसा प्रसंग है कि कोई भी व्यक्ति अपना संवरण नहीं कर सकता। ऊपरी दृष्टि से वह कितना ही चिन्तन करता हो, परन्तु इस रमणीय और लुभावने दृश्य को छोड़ कर धर्म में प्रवेश करे, यह तो विरले ही व्यक्तियों के वश की बात है।

उस श्रेष्ठिकुमार ने आचार्य सुधर्मास्वामी के एक ही प्रवचन को सुन कर आत्मिक-प्रकाश प्राप्त कर लिया था और उससे अपनी हृदय-तंत्री को झंकृत करते हुए वह आचार्य सुधर्मास्वामी के समीप से अपने माता-पिता के चरणों में पहुंचा और उनसे निवेदन करने लगा कि—हे माता-पिता, मैं अब इन पांचों इन्द्रियों के विषयों में, मनोहारी विषयों में रमण नहीं करना चाहता। ये तो बहुत समय से मेरे साथ लगे हुए हैं, परन्तु मुझे आत्मिक-शांति की उपलब्धि नहीं हो पाई। मैं अज्ञान-

वश कस्तूरी-मृग की तरह जीवन में भटकता रहा। जब तक मैं उन महात्मा के चरणों में नहीं पहुंचा था, तब तक तो यही सोच रहा था कि इस जीवन का सुख केवल इन देवांगनाओं के तुल्य रमणियों में ही है। परन्तु आज मेरे भीतर के द्वार खुल गए हैं और मेरे चिन्तन की धारा बदल गई है। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि यदि इस युवावस्था की शक्ति को अन्तश्चेतना में प्रवेश करने में लगाऊंगा तो मैं इस जीवन में दिव्य-सुख की प्राप्ति के साथ-साथ परलोक में भी उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता हूं। अतः अब मैं विवाह आदि कार्यों में उलझना नहीं चाहता हूं।"

अचानक इकलौते पुत्र की इस अलौकिक बात को सुनकर माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों को कितना आश्चर्य हुआ होगा और यह बात उन्हें कितनी अटपटी लगी होगी, इसकी कल्पना भी सम्भवतः आप अपने मस्तिष्क में नहीं कर पाएंगे क्योंकि वैसी परिस्थिति आने पर ही उसका अनुभव हो सकता है।

पुत्र के वचन सुन कर माता ने कहा, "पुत्र, लाल, जब तूने मेरी कुक्षि से जन्म लिया है तो इस घर का दीपक तू ही है। अतः इस घर की व्यवस्था और संतान-वृद्धि करके फिर धर्मस्थान में प्रवेश करना।"

प्रत्युत्तर में श्रेष्ठिकुमार ने कहा, "हे माता-पिता, यदि मैं इस सांसारिक सुखोपलब्धि में लग गया तो मेरी युवावस्था की सम्पूर्ण शक्ति का व्यय हो जाएगा और फिर मैं इस कार्य को करने में समर्थ नहीं हो सकूंगा। मैं केवल आपके ही घर को दिव्य नहीं बनाना चाहता, मैं तो सारे संसार को प्रकाश-पुंज की तरह बनाना चाहता हूं। मैं अब केवल आपकी सेवा ही नहीं अपितु प्राणिमात्र की सेवा करना चाहता हूं। मैं तो अपने व आपके जीवन की शांति के साथ जगत् के सभी जीवों को भी शांति देने के साकार रूप की कल्पना कर रहा हूं। परन्तु यह तभी संभव होगा, जब मैं उसके अनुरूप ही अपने जीवन का ढांचा बना लूं। मैं उस पथ का राही बनूंगा, तभी साध्य की सिद्धि करने में

समर्थ हो सकूंगा ।"

माता-पिता और परिवार के सदस्यों की ओर से उस कुमार को लुभाने के लिए हजार-हजार प्रयत्न किए गए, परन्तु उस तरुण को रोकने में वे सफल नहीं हो सके। अंततोगत्वा उन्होंने यही कहा, "पुत्र, हमारी ओर से तो इस पवित्र कार्य के लिए रोक नहीं है परन्तु जिन तरुणियों, सुकुमारियों के साथ तुम सगाई-सम्बन्ध में आबद्ध हो गए हो, उनसे भी अनुमति प्राप्त कर लो। वे यदि राजी-खुशी तुम्हें अनुमति दे दें तो तुम आध्यात्मिक जीवन की खोज हेतु उस पथ पर चलने के लिए स्वतन्त्र हो ।"

उस तरुण ने इस बात को अपनी शक्ति के परीक्षण का समय समझ कर मौन रख लिया। वह सोचता है कि जिस इन्सान को पवित्र अमृत-बिन्दु के स्वाद की अनुभूति हो चुकी हो, उसके लिए खारा पानी कभी भी रुचिकर नहीं हो सकता। मैं अपनी स्थिति में दृढ़ हूं।

इधर माता-पिता ने सोचा कि इन्द्रिय-विषय कुछ ऐसे लुभावने हैं कि पुरुष कितने ही तूफान मचा रहा हो, परन्तु वे सब शांत किए जा सकते हैं। अरे, एक स्त्री भी जिस पुरुष के साथ सम्बंधित हो जाती है, वह भी उसे घर से बाहर नहीं निकलने देती तो फिर जिसके साथ आठ-आठ स्त्रियां, रमणियां हों, वह हमारा तरुण पुत्र इस बंधन से कभी भी नहीं निकल पाएगा। ऐसा सोच कर माता-पिता ने अपने तरुण पुत्र का विवाह करने का निश्चय कर लिया ?

जब यह प्रस्ताव उन आठों कन्याओं के माता-पिता के पास पहुंचा तो वे सोचने लगे कि जिस युवक का सगाई-सम्बन्ध इन कन्याओं के साथ हुआ है, वह इन्हें अधबीच में छोड़ कर जाना चाहता है। परन्तु अभी तो इन कन्याओं का कुछ भी नहीं बिगड़ा है। ऐसे युवक के साथ इन कन्याओं का विवाह-सम्बन्ध क्यों किया जाए ?

जब यह बात उन कन्याओं के कानों में पहुंची तो उन्होंने अपने माता-पिता से कहा, "आप हमारे लिए अन्य किसी भी प्रकार की कल्पना

न करें। अब तो जिनके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ा है, वही हमारे पति हैं। यदि अब वे साधना के मार्ग पर जाना चाहते हैं तो हम भी पीछे नहीं रहेंगी । फिर भी हम अपनी ओर से उन्हें मनाने की, रोकने की भरसक चेष्टा करेंगी। परन्तु इस कार्य में यदि हम विफल हुईं तो हम भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करेंगी । हम भी अपने जीवन को व्यर्थ में गँवाना नहीं चाहती हैं ।

कन्याओं के माता-पिता आश्वस्त हो गए और एक ही रात्रि में उन कन्याओं के साथ उस तरुण का (जम्बुकुमार का) विवाह सम्पन्न हो गया ।

जब उन वधुओं के साथ प्रथम रात्रि बिताने का अवसर आया तो भव्य भवन के ऊपर की मंजिल में वे तरुणियां सोलह शृंगार सजा कर सामने आ गईं। वे तरुण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएं करने लगीं । लेकिन पलंग पर बैठे हुए तरुण के हृदय में विषय-वासना की ज्वाला जरा-सी भी प्रवेश नहीं पा सकी।

आध्यात्मिक जागृति का कार्य वस्तुतः श्रेष्ठतम कार्य है। परन्तु इस कार्य के लिए कौन तत्पर हो सकता है ? जिसको आध्यात्मिक जिज्ञासा लगी हुई हो, वही इस ओर मुड़ सकता है। जम्बुकुमार सोचते हैं कि मैंने अनेक जीवन अन्याय और अत्याचार में लगा दिये और आंतरिक दिव्यता को प्रकट करने में ध्यान ही नहीं दिया, यह कितनी बड़ी हानि है, विडम्बना है !

आज के तरुण और तरुणियां आत्मिक-सुख को खोजने की कोशिश करें तो वे भी उस आंतरिक दिव्यता को प्रकट करने में समर्थ हो सकते हैं।

बंधुओ ! तलवार की धार पर चलना सरल नहीं है । फिर भी कदाचित् तलवार की धार पर चला जा सकता है । परन्तु आध्यात्मिक, आंतरिक धार पर चलना उससे भी कठिन है । आप आश्चर्य करेंगे कि ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो विवाह की प्रथम रात्रि के सम्मिलन के समय जिसके सामने अप्सराओं के समान सोलह शृंगार से

सजी हुई आठ-आठ तरुणियां खड़ी हों और ऐसे मनमोहक समय में भी वह मन-वचन-काया के अणुओं में जरा भी विकार नहीं लाये और आध्यात्मिक ज्योति के दिव्य-प्रकाश से चमकता रहे। क्या यह शक्य है ? मैं कहूँगा कि यह अशक्य नहीं है।

परन्तु आज के युवक इस शक्ति से अपरिचित हैं। जीवन की आंतरिक शक्ति क्या है ? आध्यात्मिक ओज क्या है ? इसका अनेकों को पता नहीं है। हां, जो इसका आस्वादन कर चुके हैं, वे ही इसका पता लगा सकते हैं

वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति सोचते हैं कि ध्यान लगाते हुए काफी समय व्यतीत कर दिया, परन्तु आज तक उससे कुछ भी नहीं मिला। क्या वे जमीन में बीज बोते ही तत्काल उसका फल लेना चाहते हैं ? जब दुनिया में साधारण-से-साधारण बीज भी समय पर फल देता है तब आज का मानव यह चाहे कि हम अभी धर्मस्थान में जाएं और आज ही फल मिल जाए, हमें दिव्य फल मिल जाए तो यह एक हँसी की ही बात होगी।

आज के युवकों को और बुजुर्गों को दृढ़ निश्चय के साथ शांति का धरातल तैयार करना है। प्राणिमात्र को शांति देना है तो दृढ़ता के साथ धर्म का द्वार खोलना होगा और उसके खुलते ही आध्यात्मिक तेज प्रकट होगा। आप बाह्य शक्तियों को क्या देख रहे हैं ? आंतरिक शक्तियों को देखिए और उनकी सुगंध लीजिये। इन्सान को चाहिए कि वह धर्मस्थान पर पहुँचे और उसका द्वार खोले।

अब मैं पुनः पूर्वोक्त कथा-प्रसंग का संकेत करता हूं कि उस रात्रि को पांच सौ चोर जम्बुकुमार के भवन में चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुए परन्तु उनके सरदार के अतिरिक्त सबके पैर चिपक गये यह कैसे हुआ ? यह सब जम्बुकुमार के ब्रह्मचर्य की महिमा है। पांच सौ चोर उस श्रेष्ठिकुमार के घर के आंगन में रखे हुए धन की पोटलियां बांध रहे हैं और उनके पैर चिपक जाएं तो यह कौन-सी शक्ति है उसको समझाने में समय लगेगा, अतः अभी तो मैं इतना ही संकेत देता

हूं कि जो सच्चे मन से काम करता है, उसी का असर होता है।

आप श्रेष्ठिकुमार की स्थिति को मस्तिष्क में लें कि पांच सौ चोरों के पैर चिपकने की शक्ति उसमें किस संकल्प से पैदा हुई ? चोरों का सरदार सोचता है—"मुझे देखना है कि यह कौन मंत्रवादी है ? मेरे पास दो विद्याएं हैं। एक विद्या के प्रयोग से मैं सब को नींद में सुला देता हूं और दूसरी से सभी ताले खोल देता हूं। परन्तु यहां तो दोनों ही विफल हो गईं। सब तो सो गए परन्तु यह मनुष्य क्यों और कैसे बैठा रहा ? ये ताले तो खुल गए परन्तु मेरे साथियों के पैरों में ताले कैसे लग गए ?

जब चोरों का सरदार ऊपर जम्बुकुमार के कमरे के सामने पहुँचता है तो प्रथम दृष्टिपात होते ही साश्चर्य सोचने लगता है कि इस पलंग पर बैठने वाला क्या इन्द्र है ? और क्या उसके सामने खड़ी रहने वाली इन्द्राणियां हैं ? क्या यह स्वर्ग है ? परन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचता है कि यहां तो एक युवक है। जहां इन्द्राणियां हों, वहां इन्द्र भी मन को नहीं रोक सकता, वश में नहीं रख सकता। परन्तु यहां तो इन्द्राणियों के सामने यह तरुण बैठा हुआ है। मैं अपनी श्रेष्ठ शक्ति इसे दे दूं और बदले में पैर चिपकाने वाली शक्ति क्या है तथा उसका प्रयोग कैसे किया जाता है, वह शक्ति मैं इससे ग्रहण कर लूं तो मेरा जीवन सफल हो जायेगा। ऐसा विचार कर चोरों के सरदार ने अपने आपको उस तरुण के चरणों में अर्पित कर दिया।

उस महापुरुष की शक्ति को उसने समझ लिया था। उसको विश्वास हो गया था कि यह सब आंतरिक शक्ति का प्रभाव है। सरदार के समर्पण के साथ ही उन सभी चोरों के पैर भी खुल गए। उन्होंने भी चोरी का धंधा छोड़ कर अपने स्वरूप को समझ लिया। उनके सामने एक द्वार खुला और उससे अनेकों की जिन्दगी सुधर गई।

आज का मानव भी यदि अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करे तो क्या ऐसा नहीं हो सकता ? आज अनैतिकता का दौरदौरा है। आज

मानवता खत्म हो रही है। नैतिकता के इस पतन में जिनका योग है, यदि वे अपने जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ लें तो संसार को शांति की श्वास मिल सकती है। परन्तु इसके लिए एक ही रास्ता है कि अपने निज स्वरूप को पहिचानने का प्रयत्न किया जाये। अतः सभी प्रयत्नों के द्वारा हमें उस अंतर्यामी को प्राप्त करना है, उसको ही समझना है, जो—

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।



बीकानेर—
सं० २०३०, आषाढ़ शुक्ला १४

चिन्तन का प्रथम सूत्र : 'मैं कौन हूं'

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी आतमरामी नामी रे·········

परमात्मा के चरणों में आंतरिक उल्लास के साथ किया गया उद्‌बोधन इस लोक में रहने वाले परम पावन तत्त्व आत्मा के लिए है। जिस आत्मतत्त्व के द्वारा इस चराचर लोक का स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है, जिससे समस्त आध्यात्मिक प्रक्रियायें चल रही हैं, वह आत्मतत्त्व इस मानव-पिण्ड के पास है और मानव-पिण्ड में ही नहीं, अपितु पशु-जगत् में भी वह व्याप्त है। उस आत्मिक स्वरूप को पहिचानने के लिए आध्यात्मिक-दृष्टिकोण का स्वरूप मानव के मस्तिष्क में आना जरूरी है।

कभी-कभी मनुष्य के मस्तिष्क में यह विचार आता है कि आध्यात्मिक धर्म की दशा आत्मा के अस्तित्व में आ सकती है। परन्तु जब तक हमको आत्मा के यथार्थ अस्तित्व का ज्ञान नहीं है, तब तक वह जीवन के लिए कैसे श्रेयस्कर हो सकती है ? यह प्रश्न ही प्रकारान्तर से सुन्दर तरीके का है। मूल है तो उसमें शाखा-प्रशाखायें निकल सकती हैं। यदि बीज है तो वृक्ष बन सकता है। परन्तु बीज ही न हो तो शाखा-प्रशाखाएं कैसे हो सकती हैं ? मानव को इस विषय में निश्शंक होकर चिन्तन करना है।

बंधुओ ! जिस आधार को लेकर चिन्तन चल रहा है, उस शरीर पिण्ड में वह चैतन्य-स्वरूप आत्मा विद्यमान है। उसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रकाश को ढूंढ़ने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा को ढूंढ़ने के लिए यदि कोई चाहे कि हमको अन्य कोई प्रमाण दिया जाये तो क्या वह प्रश्न

महत्त्वपूर्ण होगा ? शास्त्रकारों का कथन है कि इस विषय में स्वसंवेदन ही एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन है। स्वयं का अनुभव, स्वयं का संवेदन, इसका मतलब यह है कि 'मैं हूं' इस प्रकार की प्रतीति जहां हो रही है तो उस प्रतीति का आधार, उस प्रतीति का जो गुणी है, वह आत्मा है। किसी भी व्यक्ति से पूछा जाये कि 'तू कौन है ?' तो वह उत्तर देगा कि 'मैं अमुक हूं—मैं अमुक हूं,' तो इस वाक्य में भी अमुक कहने के पहिले 'मैं' आया। जब 'मैं' शब्द का प्रयोग हो रहा है तो जिसके लिए 'मैं' प्रयोग हो रहा है, वह कौन है ? वह आत्मा है।

जो दृढ़ संकल्पी 'मैं' है, वह संशय रहित है और स्वयं दृढ़ता के साथ प्रयोग करता है कि 'मेरा है' और 'मैं हूं।' यह 'मैं' वस्तु-स्वरूप का कथन है कि 'मैं' यानि आत्मा है और यह कथन अभिमान आदि का सूचक नहीं है। मैं अमुक ज्ञान रखता हूं, मुझे अमुक विज्ञान है, मैं अमुक कला के साथ कार्य कर सकता हूं, मेरी इतनी योग्यता है, मैं इतना गणित का कार्य संपादन कर सकता हूं, इतनी गति मुझ में है आदि-आदि कहने वाला वह चैतन्य-तत्त्व आत्मा है। इस कथन की शक्ति आत्मा से भिन्न तत्त्व में नहीं है। जड़ तत्त्व तो यह नहीं कह सकता है कि 'मैं हूं।' जिसमें 'मैं' कहने की ताकत नहीं है, वह आत्मा नहीं है। वह चैतन्य नहीं है और जो दृढ़तापूर्वक 'मैं' कहता है, वह आत्मा है।

कभी-कभी वह आत्मा ही विपरीत दृष्टिकोण से अपने आपका निषेध करने पर उतारू हो जाती है और कह दिया जाता है कि मैं नहीं हूं—आत्मा नहीं हूं। ऐसे लोगों से पूछा जाये कि 'आत्मा नहीं है' यह कहने वाला कौन है ? निषेधकर्ता कौन है ? जो निषेधकर्ता है, वही आत्मा है। निषेध की दृष्टि से भी आत्मा का स्वरूप स्वयंसिद्ध है। उस स्वरूप को सिद्ध करने के लिए अनेकानेक प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। परन्तु मूलतः उस स्वरूप के पीछे ही वे प्रमाण लागू होते हैं। व्यक्ति के पास तर्क-वितर्क की शक्ति है। जो तर्क-वितर्क करता है, वह तर्क-वितर्क करने वाला ही आत्मा है। वह भले ही अपने मुंह से कहे कि जैसे हम

अन्य पदार्थों को अपनी आंखों से देख रहे हैं, उसी तरह यदि कोई आत्मा भी हमको निकाल कर बता दे तो हम मान सकते हैं, परन्तु जो अन्य पदार्थों की तरह आत्मा को भी प्रत्यक्ष नहीं दिखला सकते, उनकी बातों को हम कैसे मानें ? ऐसी भावना अनेकानेक व्यक्तियों की हो सकती है। यह पूर्व में भी बनी है और भविष्य में भी बन सकती है।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है—जैसे कि प्रदेशी राजा राजकीय सत्ता और संपत्ति से युक्त था परन्तु साथ ही साथ आत्मा के विषय में संशयशील भी था। उसका दृष्टिकोण था कि आत्मा नामक तत्त्व जब तक मैं अपनी इन आंखों से नहीं देख लूं, तब तक मैं उसे मानने को तैयार नहीं हूं। जब किसी भी व्यक्ति के मुंह से राजा प्रदेशी यह सुनता कि आत्मा है, परमात्मा है तो वह उस व्यक्ति को पकड़वा कर जेल में बंद करवा देता था और उससे कहता कि बता आत्मा कहां है ? परमात्मा कहां है ? तुम्हारे इस शरीर में आत्मा है तो मैं उसे देखना चाहता हूं। अपनी आंखों से यदि शरीर में आत्मा देख लूं तो समझ लूंगा कि आत्मा नाम का कोई तत्त्व है। वह हाथ में नंगी तलवार लेकर कैदी का सिर, हाथ, पैर, नाक, कान अलग-अलग काट कर देखता कि उसमें आत्मा नाम का तत्त्व कहां है ? इस प्रकार उसकी नास्तिकता बढ़ती गई। दिन-प्रतिदिन वह इसी कार्य में लगा रहता था। खून से उसकी तलवार रंगी रहती थी और वह अनेक व्यक्तियों को त्रास देता रहता था।

एक बार किसी समय जब वह दूर से थका हुआ आया तो अपने प्रधान जी के साथ बगीचे में वृक्ष के नीचे विश्रांति लेने की दृष्टि से बैठा और वहां विश्रांति लेकर जैसे ही उसने दृष्टि डाली तो वहां बगीचे के प्रांगण में जनसमुदाय शांत एकचित्त होकर आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी वृत्तान्त सुन रहा था। यह देख प्रदेशी मन में सोचने लगा कि यह बगीचे में कौन है ? कौन जड़-मूढ़ यहां बैठा हुआ सुना रहा है और कौन ये जड़-मूढ़ सुन रहे हैं ?

राजा प्रदेशी ने यह कल्पना अपने मन में ही की परन्तु आकृति

पर उसकी झलक तक नहीं आने दी। उसने प्रधान जी को भी अपने मन की भावना ज्ञात नहीं होने दी। प्रधान जी के समक्ष तो उसने शिष्ट शब्दों का ही प्रयोग किया और कहा, "प्रधान जी ! ये कौन बैठे हुए हैं और क्या सुन रहे हैं ?" तब प्रधान ने राजा के वचनों को सुन कर कहा, "राजन् ! ये आत्मवादी श्रमण हैं। इनका नाम केशी श्रमण है। आत्मवाद के ये स्वामी हैं। ये भव्य आत्माओं को प्रबोध दे रहे हैं, लोक और परलोक सम्बन्धी प्रक्रियाओं का विवेचन कर रहे हैं। वर्तमान जीवन में सुख और शांति कैसे मिले और भविष्य में भी यह आत्मा वास्तविक शांति का अनुभव कैसे करे, इसका उपाय बता रहे हैं।

यह सुन कर राजा प्रदेशी की जिज्ञासा बढ़ी और वह कहने लगा कि क्या ये मुझे आत्मा के दर्शन करा सकेंगे ? तब प्रधान ने कहा, "राजन् ! आप पधारिए और उनसे ही प्रश्न कीजिए। वे आपके लिए क्या कर सकते हैं और क्या नहीं, इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता। हां, आपकी प्रसन्नता हो तो हम चलें।"

राजा प्रदेशी प्रधान के साथ सभा के समीप जाकर खड़ा हो गया और कुछ मुस्कराता हुआ देखने लगा। तब केशी श्रमण ने राजा की ओर संकेत किया—"कौन राजा प्रदेशी ?" अपने नाम को सुन कर राजा प्रदेशी मन में अचंभित हो गया। वह सोचने लगा कि मेरा नाम इन्होंने कैसे जान लिया ? परन्तु दूसरे ही क्षण उसने सोचा कि जानें क्यों नहीं ? मैं बहुतों को नहीं जानता हूं परन्तु मुझे तो वे लोग जानते हैं। सवारी में निकलते हुए कहीं इन्होंने मुझे देख लिया होगा अथवा जनता से जानकारी कर ली होगी। इसी कारण इन्होंने मुझे पुकार लिया।

राजा इतना चिन्तन कर ही रहा था कि केशी श्रमण ने पुनः कहा, "राजन् ! उस वृक्ष की छाया में बैठे-बैठे आपके मन में विचार पैदा हुआ कि कौन यह जड़-मूढ़ बैठा हुआ है और कौन ये जड़-मूढ़ सुन रहे हैं ? क्या यह बात सच्ची है ?"

इस प्रश्न ने तो राजा प्रदेशी के जीवन को ही झकझोर दिया।

वह सोचने लगा कि मैं कितनी दूरी पर था । मेरी आकृति भी यहां से स्पष्ट रूप में नहीं दीख पा रही थी । उस वक्त मैंने जो अपने मन में सोचा और जिस विचार की झलक प्रधान तक को भी नहीं हुई, परन्तु ये महात्मा उसे कैसे जान गये ?

प्रदेशी अपने अंतर्मन की बात को सुन कर जिज्ञासावान बनता है और फिर प्रश्नोत्तरों के द्वारा वह आत्मा सम्बन्धी जानकारी करता है।

बन्धुओ, राजा प्रदेशी के प्रश्नोत्तरों का प्रकरण बड़ा विस्तृत है । प्रश्न और उत्तर, प्रतिप्रश्न और पुनः उत्तर, इस विषय को सिलसिलेवार सुनें तो आपको आत्मा सम्बन्धी विज्ञान का पूरा बोध हो सकेगा । आप स्वयं चिन्तन कीजिए कि इतनी दूरी पर रहने वाले व्यक्ति के मन की बातों को केशी श्रमण ने कैसे जान लिया ? आंखें तो शरीर तक सीमित हैं । ये शरीर के ऊपरी भाग को देख सकती हैं । परन्तु शरीर के भीतर क्या है, यह आंखें नहीं देख सकतीं । मन तो शरीर के अंदर रहने वाला एक तत्त्व है, जिसके माध्यम से आत्मा अपना कार्य संपादन करती है । इस मन की गतिविधि को महात्मा केशी श्रमण ने कैसे पहिचान लिया ?

पहिचानने की यह शक्ति बाहरी दृष्टि में नहीं है, यह अंदर की शक्ति में समायी हुई है । इसके द्वारा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व जाना जा सकता है ? स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म तत्त्व को नहीं देखा जा सकता । वायु अन्य पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म है । जैसे वायु को ग्रहण करने के लिए विशेष यंत्र की आवश्यकता है, वैसे ही मन की गति को पकड़ने के लिए आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। इन कल्पनाओं के आकार को आत्म-प्रदेशों से जान लेना, यह शक्ति जिसमें हो, वही दूर रहने वाले व्यक्ति के मन के परिणामों को जान सकता है । आत्मा की यह शक्ति हर व्यक्ति में है और उसको साधना के द्वारा वह प्रकट कर सकता है ।

आप यहां जिस वायुमंडल में बैठे हैं, उसमें कैसे-कैसे सूक्ष्म तत्व समाए हुए हैं तथा आकाश में कौन-कौन से ग्रह, नक्षत्र आदि कितनी दूरी

पर हैं और उनका क्या स्वरूप है, इन्हें आप पूर्णरूप से इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकेंगे। परन्तु दूरवीक्षण यंत्र के माध्यम से इन दूर के तत्त्वों ग्रह–नक्षत्रों को भी अधिक स्पष्टता से देख सकते हैं। परन्तु किसी व्य. आंखों में यदि देखने की शक्ति न हो तो क्या वह व्यक्ति दूरवीक्षण यंत्र के माध्यम से उन सूक्ष्म तत्त्वों व मंगल ग्रह आदि को देख सकेगा ? कदापि नहीं। जिसकी आंखों में ज्योति नहीं, ऐसा व्यक्ति दूरवीक्षण यन्त्र से भी नहीं देख सकता। भले ही आंखों का आकार हो, पलकें भी हों, काली टीकी भी हो, सब कुछ हो, परन्तु देखने में सहायक, आंतरिक शक्ति व्यवस्थित नहीं है तो वह व्यक्ति आंखों से, दूरवीक्षण यंत्र द्वारा भी कुछ नहीं देख पाता। आंखों की यह आंतरिक शक्ति (अवयव) इतनी सूक्ष्म है कि इसकी खोज अभी तक भौतिक वैज्ञानिक भी नहीं कर पाये हैं। वे परेशान हैं। इन आंख आदि अंगों को संचालित करने वाली शक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है, उसका अनुमान लगाना कठिन अवश्य है, लेकिन इस शक्ति के रहने पर ही आंख आदि के अवयव सक्रिय हो सकते हैं और देखने का कार्य किया जा सकता है। यह आंतरिक शक्ति ही आत्मा है, जिसका हर एक व्यक्ति अनुभव करता है।

चाहे कोई ग्रेजुएट है या व्यापारी है या घर के कार्य की योग्यता वाला है, परन्तु जिस विषय में जो दक्ष और प्रवीण है, उस योग्यता का वह अन्दर अनुभव करता है। लेकिन वह योग्यता कितनी है, उसे क्या हथेली पर निकाल कर दिखलाया जा सकता है ? इस प्रकार कोई भी अपनी योग्यता नहीं दिखला सकता है। फिर यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि आप प्रत्यक्ष में नहीं दिखला सकते, इसलिए आप में योग्यता नहीं है तो आप उसे क्या कहेंगे ? आप सहज ही यह कहेंगे कि वह योग्यता मुझ में है, मैं उसका अनुभव कर रहा हूं परन्तु अन्दर की अनुभूति बतला नहीं सकता और इतने मात्र से यदि कोई उसे अस्वीकार करता है तो भले ही करे। परन्तु मुझे संशय नहीं है। मैं तो निश्चित रूप से अंदर की योग्यता का अनुभव कर रहा हूं। और भी समझिये कि अंदर में वह

कैसा है और बाहर में कैसा है, इसका विज्ञान व्यक्ति को स्वयं है। बाहर से भले ही कोई सुन्दर फैशनेबिल पोशाक सजा कर चले, परन्तु अपने अंदर की जो वास्तविक स्थिति है, वह उसके अंदर के अनुभव के सामने प्रकट रहती है, वह उसे ओझल नहीं कर सकता है। वह अपने आपको भुला नहीं सकता। वह जानता है कि मेरी आंतरिक स्थिति क्या है ? यद्यपि मैं बाहर से सुन्दर हूं परन्तु अंदर का वह स्वरूप बाहर आ जाये तो लोग मुझे घृणा से देखने लगेंगे। लेकिन जो अंदर और बाहर से एक है, वह सोचता है कि अंदर की शक्ति को जीवन के साथ जितना संबन्धित रखूंगा, उज्ज्वल रखूंगा, उतनी ही शक्ति बढ़ेगी। वह अंदर की शक्ति के विकास का हर क्षण जीवन के साथ अनुभव करता है और जो अनुभव करता है, वही आत्मा है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के बारे में दो मत नहीं हो सकते।

इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक दृष्टि से आप अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है। फिर प्रत्येक मानव में वह शक्ति क्यों नहीं आ रही है, जबकि हर व्यक्ति उसे जीवन में देख सकता है ? इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप को अन्दर से देखने का प्रयास नहीं करता है, किन्तु बाहर-ही-बाहर देखता है। बाहर के जो दृश्य हैं, वे राग-द्वेषपूर्ण एवं विषमतामय हैं।

आज मानव-मानव में विषमता की खाई पड़ गई है। इस विषमता की खाई को पाटने के लिए समता-दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। इसके न होने से मानव अपनी आत्मा को मांज नहीं पा रहा है। यदि वह समता-दर्शन के महत्त्व को जान ले तथा उसे आचरण में उतार ले तो परिमार्जित हो जाये।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है और वह अपनी आंतरिक शक्तियों को देख सकती है। परन्तु मानव आंतरिक शक्तियों को न देखकर केवल बाहर की आकृतियों को देखकर ही फूला नहीं समाता है। जैसे कि— मैं कितना सुन्दर हूं, मैं कितना गौरवर्ण हूं। यह कुंकुम का तिलक ठीक है या नहीं है, इसकी

परीक्षा लोग दर्पण में देखकर करते हैं। ऐसा वे क्यों करते हैं? दर्पण में वस्तु का प्रतिबिंब पड़ता है, इसी कारण उस में देखने वाला व्यक्ति जैसा है, वैसा ही देख लेता है। जैसे आप दर्पण से मुखाकृति देख सकते हैं, उसी प्रकार समता के दर्पण में अपने आपको देख लें तो अंदर के जीवन की समता को देख सकेंगे। जब तक मनुष्य समता के धरातल पर नहीं आता है, तब तक मस्तिष्क की गुत्थियों को वह नहीं समझ सकता। अनेक व्यक्ति अनेक तरह की कल्पनाओं की कुछ ऐसी पोटलियां लेकर चल रहे हैं, जिससे वे बोझिल बन रहे हैं और संभल नहीं पा रहे हैं। उनके लिए समता दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। इस दर्शन में किसी जाति, व्यक्ति, पार्टी या अमुक हिस्से का निर्देश नहीं है। यदि सब समता-दर्शन को ग्रहण कर लें तो अपनी उलझी हुई मानसिक स्थिति को ठीक कर सकते हैं और शुद्ध हो सकते हैं। समता-दर्शन की दृष्टि से मानव-जीवन का मूल्यांकन करें। इससे आप अपने जीवन को भी पहिचान सकते हैं कि मैं कौन हूं और मुझे क्या करना चाहिए। परिवार के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, समाज के प्रति मेरा क्या उत्तर-दायित्व है, राष्ट्र के लिए मेरा क्या कर्तव्य है और विश्व के साथ मेरी क्या जिम्मेवारी है? परन्तु ऐसा सोचें और करें कैसे? जब मापदंड ठीक बन जाये, तभी यह हो सकता है। परन्तु आज के मानव का दृष्टिकोण क्या है? वह बाह्य दृष्टि से व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। बाहरी दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति किसी का मूल्यांकन करता है और देखता है कि यह व्यक्ति अच्छी पोशाक सजा कर आया है तो यह बहुत बड़ा आदमी है और इस व्यक्ति की पोशाक साधारण है तो कुछ भी नहीं है। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अपने स्वरूप को भूलता है और दूसरों के साथ भी ईमानदारी का व्यवहार नहीं करता है। इस दृष्टि के कारण ही इन्सान विषमता के दलदल में फंसा हुआ है। इस सम्बन्ध में एक रूपक है।

किसी गांव में एक पटेल था। वह था तो पैसे वाला परंतु

उसकी पोशाक वैसी ही थी, जैसी कि गांवों में पाई जाती है—रेजे की मोटी कसोंदार अंगरखी, रेजे की मोटी धोती और वैसी ही जूतियां। ऐसी पोशाक के साथ वह पटेल किसी शहर में आभूषण खरीदने के विचार से एक बड़े जौहरी की दूकान पर पहुँचा। दूकान के बड़े जौहरी जी तकिये के सहारे बैठे हुए थे और दस-बीस मुनीम-गुमाश्ते काम कर रहे थे। पटेल के पैरों की आहट सुन कर सबकी नजर उसकी तरफ गई। परन्तु उसकी पोशाक गांव में रहने वाले साधारण व्यक्ति जैसी होने के कारण उन्होंने सोच लिया कि यह कोई मामूली आदमी होगा। ऐसा सोच कर किसी ने उसके साथ बातचीत तक नहीं की और सब अपने-अपने काम में लग गये।

पटेल कुछ देर दूकान पर खड़ा रहा। उसने सोचा कि मेरी तरफ ये देखें और कुछ पूछें तो मैं इनसे माल लूं, जवाहिरात खरीदूं। परन्तु वहां खड़े रहने पर भी किसी ने उसकी तरफ दृष्टि नहीं डाली तो उसने सोचा—"अरे, इन्होंने मेरा मूल्यांकन पोशाक से किया है और मुझे ना-कुछ समझ लिया है। इन्होंने मेरी तरफ इंसानियत के नाते से भी नहीं देखा। यह कितनी बड़ी विषमता है।

आज भी क्या भारतभूमि पर इसी तरह से मूल्यांकन नहीं हो रहा है? जहां इस तरह से मनुष्य का मूल्यांकन हो वहां आत्मा के स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है?

उस पटेल में आत्मा की शक्ति थी, चिन्तन था। उसने तय किया कि ये लोग पोशाक से मूल्यांकन कर रहे हैं, अतः इनको कुछ सावधान करना चाहिए। ये जौहरी तो बने बैठे हैं परन्तु सच्चे जौहरी नहीं हैं। ये बुद्धिमान हैं परन्तु इनमें स्वयं का विवेक नहीं है।

पटेल थोड़ी देर दूकान पर खड़ा रहा और फिर नीचे उतर कर बाजार में चला गया। आगे जाकर उसने किसी व्यक्ति से धोबी की दूकान का पता पूछा और वहां जा पहुंचा। पटेल ने धोबी से कहा, "भाई, किसी मंत्री या बड़े आदमी की पोशाक भी

परीक्षा लोग दर्पण में देखकर करते हैं। ऐसा वे क्यों करते हैं? दर्पण में वस्तु का प्रतिबिंब पड़ता है, इसी कारण उस में देखने वाला व्यक्ति जैसा है, वैसा ही देख लेता है। जैसे आप दर्पण से मुखाकृति देख सकते हैं, उसी प्रकार समता के दर्पण में अपने आपको देख लें तो अंदर के जीवन की समता को देख सकेंगे। जब तक मनुष्य समता के धरातल पर नहीं आता है, तब तक मस्तिष्क की गुत्थियों को वह नहीं समझ सकता। अनेक व्यक्ति अनेक तरह की कल्पनाओं की कुछ ऐसी पोटलियां लेकर चल रहे हैं, जिससे वे बोझिल बन रहे हैं और संभल नहीं पा रहे हैं। उनके लिए समता दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। इस दर्शन में किसी जाति, व्यक्ति, पार्टी या अमुक हिस्से का निर्देश नहीं है। यदि सब समता-दर्शन को ग्रहण कर लें तो अपनी उलझी हुई मानसिक स्थिति को ठीक कर सकते हैं और शुद्ध हो सकते हैं। समता-दर्शन की दृष्टि से मानव-जीवन का मूल्यांकन करें। इससे आप अपने जीवन को भी पहिचान सकते हैं कि मैं कौन हूं और मुझे क्या करना चाहिए। परिवार के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, समाज के प्रति मेरा क्या उत्तर-दायित्व है, राष्ट्र के लिए मेरा क्या कर्तव्य है और विश्व के साथ मेरी क्या जिम्मेवारी है? परन्तु ऐसा सोचें और करें कैसे? जब मापदंड ठीक बन जाये, तभी यह हो सकता है। परन्तु आज के मानव का दृष्टिकोण क्या है? वह बाह्य दृष्टि से व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। बाहरी दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति किसी का मूल्यांकन करता है और देखता है कि यह व्यक्ति अच्छी पोशाक सजा कर आया है तो यह बहुत बड़ा आदमी है और इस व्यक्ति की पोशाक साधारण है तो कुछ भी नहीं है। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अपने स्वरूप को भूलता है और दूसरों के साथ भी ईमानदारी का व्यवहार नहीं करता है। इस दृष्टि के कारण ही इन्सान विषमता के दलदल में फंसा हुआ है। इस सम्बन्ध में एक रूपक है।

किसी गांव में एक पटेल था। वह था तो पैसे वाला परंतु

उसकी पोशाक वैसी ही थी, जैसी कि गांवों में पाई जाती है—रेजे की मोटी कसोंदार अंगरखी, रेजे की मोटी धोती और वैसी ही जूतियां। ऐसी पोशाक के साथ वह पटेल किसी शहर में आभूषण खरीदने के विचार से एक बड़े जौहरी की दूकान पर पहुँचा। दूकान के बड़े जौहरी जी तकिये के सहारे बैठे हुए थे और दस-बीस मुनीम-गुमाश्ते काम कर रहे थे। पटेल के पैरों की आहट सुन कर सबकी नजर उसकी तरफ गई। परन्तु उसकी पोशाक गांव में रहने वाले साधारण व्यक्ति जैसी होने के कारण उन्होंने सोच लिया कि यह कोई मामूली आदमी होगा। ऐसा सोच कर किसी ने उसके साथ बातचीत तक नहीं की और सब अपने-अपने काम में लग गये।

पटेल कुछ देर दूकान पर खड़ा रहा। उसने सोचा कि मेरी तरफ ये देखें और कुछ पूछें तो मैं इनसे माल लूं, जवाहिरात खरीदूं। परन्तु वहां खड़े रहने पर भी किसी ने उसकी तरफ दृष्टि नहीं डाली तो उसने सोचा—"अरे, इन्होंने मेरा मूल्यांकन पोशाक से किया है और मुझे ना-कुछ समझ लिया है। इन्होंने मेरी तरफ इंसानियत के नाते से भी नहीं देखा। यह कितनी बड़ी विषमता है।

आज भी क्या भारतभूमि पर इसी तरह से मूल्यांकन नहीं हो रहा है? जहां इस तरह से मनुष्य का मूल्यांकन हो वहां आत्मा के स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है?

उस पटेल में आत्मा की शक्ति थी, चिन्तन था। उसने तय किया कि ये लोग पोशाक से मूल्यांकन कर रहे हैं, अतः इनको कुछ सावधान करना चाहिए। ये जौहरी तो बने बैठे हैं परन्तु सच्चे जौहरी नहीं हैं। ये बुद्धिमान हैं परन्तु इनमें स्वयं का विवेक नहीं है।

पटेल थोड़ी देर दूकान पर खड़ा रहा और फिर नीचे उतर कर बाजार में चला गया। आगे जाकर उसने किसी व्यक्ति से धोबी की दूकान का पता पूछा और वहां जा पहुंचा। पटेल ने धोबी से कहा, "भाई, किसी मंत्री या बड़े आदमी की पोशाक भी तुम्हारे पास धुलने

को आई है क्या ?" धोबी ने उत्तर दिया, "हां आई हुई है।" पटेल ने कहा, "उसे धोना है या वह तैयार है ?" जवाब मिला कि पोशाक धुली हुई तैयार है। इस पर पटेल ने कहा, "भाई, थोड़ी देर के लिए वह पोशाक मुझे किराये पर दे दो। मैं उसका किराया और साथ ही दुगुनी धुलाई भी दे दूंगा।" ऐसा सुन कर धोबी ने सोचा कि यह पटेल है या अन्य कोई है ? मैं कीमती पोशाक इसे दे दूं और यह वापिस लाकर न देवे तो क्या हाल होगा ? इधर पटेल ने भी सोचा कि धोबी असमंजस में पड़ गया है। ऐसा विचार कर उसने कहा—"तू क्यों डर रहा है ? पोशाक के बदले जितने रुपये चाहिए, ले ले।" ऐसा सुनते ही धोबी खुश हो गया और उसने पटेल को कीमती पोशाक सौंप दी।

पटेल ने फिर सोचा कि केवल पोशाक से ही काम नहीं चलेगा। इसके साथ और भी सामग्री चाहिए। अतः उसने साबुन खरीदा, बढ़िया बूंट खरीदे और एक बढ़िया बेंत भी मोल ली। फिर वह एक तालाब पर पहुँचा। वहां साबुन लगा कर नहाया और फिर सारी सामग्री से उसने अपनी काया को सुशोभित कर लिया। इस प्रकार उसने ऊपर की सारी सजावट कर ली और बाजार के बीच में से होकर चल पड़ा।

अब पटेल फिर उसी जौहरी की दूकान के समीप पहुँचा। बड़े जौहरी जी ने उसे देखते ही मुनीम-गुमाश्तों से कहा, "देखो, कोई बड़ा आदमी या मंत्री आ रहा है।" ऐसा सुनते ही बड़े मुनीम जी उठे और उनके साथ दूसरे गुमाश्ते भी उठ खड़े हुए। वे सब दूकान के नीचे आये। बड़े मुनीम जी ने हाथ मिलाया और नम्रतापूर्वक कहा—"पधारिये, साहब।"

यह सब देख कर उस पटेल ने सोचा कि यह मेरी कद्र नहीं हो रही है, यह तो मेरे शरीर पर पड़ी हुई कीमती पोशाक की कद्र हो रही है।

इसके बाद सबसे पहिले चाय-नाश्ते का प्रबंध हुआ। बड़े मुनीमजी ने चुपचाप सारा इन्तजाम करवा दिया। सेठ साहब ने भी बड़े प्रेम के साथ कहा, "साहब, भीतर पधारिये।" साहब अंदर गये। वहां बहुत बढ़िया तैयारी थी ही। चांदी का बाजोट, चांदी के थाल-

कटोरियां, यह सब आप सेठ लोग समझते ही होंगे । थाल अनेक तरह के पकवानों से भरा हुआ था । नकली साहब के पास बैठ कर सेठ साहब बातचीत करने लगे । वे बड़े प्रेम से बोले - "आरोगिये साहब ।"

पटेल कुछ देर विचार करता रहा और फिर उसने एक घेवर उठा कर अपनी जेब में रख लिया । इसके बाद गुलाबजामुन उठा कर दूसरी जेब में रख लिया । यह सब देख कर जौहरी सोचने लगा, "इन्हें यह क्या हो गया ? इनके दिमाग में खराबी तो नहीं आ गई ?" इतने में ही देखा तो साहब ने एक जलेबी उठाई और उसे अपने वस्त्र के आगे के हिस्से में रख लिया । अब तो जौहरी जी से नहीं रहा गया और वे बोले, "साहब, यह आप क्या कर रहे हैं ? क्यों व्यर्थ में अपनी पोशाक खराब कर रहे हैं ? आप इस कीमती पोशाक को मलीन मत करें । मैं मिठाई टिफिन-बक्स में भरवा कर आपके साथ भिजवा दूंगा ।"

ऐसा सुनते ही पटेल ने कहा, "सेठ साहब, यह बढ़िया भोजन जिसकी बदौलत मिल रहा है, उसको ही खिलाना है । आपने मुझे पहिचाना नहीं । मैं तो वही पटेल हूं, जो कुछ समय पहिले आपकी दूकान पर आया था परन्तु उस समय मुझ पर आपकी नजर ही नहीं पड़ी । अब मैं बढ़िया पोशाक सजा कर आया हूं तो खाने को अच्छी-अच्छी मिठाइयां मिल रही हैं । आपका जीवन केवल बाह्य दृष्टि की ओर ही लगा हुआ है । उसी दृष्टि से आप मानव-जीवन का मूल्यांकन कर रहें हैं । आप सच्चे व्यापारी नहीं हैं । आपके पास कैसा भी व्यक्ति आये परन्तु आपकी सब पर समभाव की दृष्टि रहनी चाहिए । आपने पोशाक देख कर मेरा सम्मान किया । यदि मैं चाहता तो इस पोशाक से बहुत कुछ ठग सकता था । परन्तु मुझे ऐसा कुछ नहीं करना है । मेरी चैतन्य आत्मा कहती है कि ऐसा नहीं करना चाहिए ।"

पटेल ने इस प्रकार सेठ को उत्तम शिक्षा दी, जिससे उनके जीवन में एक नया प्रकाश आ गया ।

बंधुओ, यह तो एक रूपक है । यह कैसा भी हो

के भाई-बहिन बाहर की दृष्टि से ही मूल्यांकन कर रहे हैं। आज अंदर के चिन्तन से मूल्यांकन नहीं हो रहा है। यदि बाह्य पदार्थों के चिन्तन को छोड़कर उस सत्-चित्-आनन्दघन की ओर दृष्टि है तो ऐसा व्यक्ति कोई धोखा नहीं दे सकता, ठग नहीं सकता। इसका आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। यदि जीवन को सार्थक करना है तो समता-दर्शन का सिद्धांत हरएक व्यक्ति के हृदय में आना चाहिए। तब आप सोचेंगे कि जैसा सत्-चित्-आनन्दघन मेरे अन्दर है, वैसा ही सामने वालों में भी इसी रूप में है। वही योग्यता उनकी भी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण ऐसा बन जाता है तो सभी का जीवन भी समतादर्शनमय हो सकता है। यदि समतादर्शन का सिद्धांत सबके दिमाग में जम गया तो जनकल्याण की भावना रामबाण दवा की तरह काम करेगी। अतः सब से पहिले समतादर्शन के माध्यम से अपने आपको समझने का प्रयास करें। यदि आप समतादर्शन के सिद्धांत को लेकर चलते हैं तो स्वयं को, परिवार को, राष्ट्र को और सम्पूर्ण विश्व को समता में ढालने का यह सफल प्रयास होगा और राष्ट्रीय धरातल पर व्याप्त विषमता सर्वथा समाप्त हो जाएगी। साथ ही आप यह जान सकेंगे कि वास्तविक समाजवाद की स्थापना किस प्रकार हो सकती है।

अंत में मैं इतना ही संकेत करना चाहता हूं कि आप प्रार्थना के माध्यम से अंदर की शक्ति को समझने का और अंदर के विचारों को मांजने प्रयास करेंगे तो आपका यह लोक और परलोक दोनों ही सुधर जायेंगे।



बीकानेर—
सं० २०३०, आषाढ़ शुक्ला १५

श्रेयमार्ग : प्रेयमार्ग

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे ।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ।
शब्द अध्यातम अर्थ सुणीने, निर्विकल्प आदरजो रे ।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हाण ग्रहण मति धरजो रे ।
अध्यातम जे वस्तु विचारी..............................।

कविता के माध्यम से श्रेयांस परमात्मा की स्तुति की गई है । प्रभु श्रेयांस जीवन के श्रेयमार्ग के प्रतीक हैं । विश्व में दो ही मार्ग हैं—एक श्रेयमार्ग और दूसरा प्रेयमार्ग । प्रेयमार्ग की तरफ तो सारी दुनिया जा रही है, परन्तु श्रेयमार्ग की ओर बिरले ही व्यक्तियों का ध्यान आता है ।

प्रेयमार्ग का तात्पर्य बाहरी भौतिक जगत् से है । इन इंद्रियों से दिखलाई देने वाले नाशवान् मनोहारी दृश्यों से आत्मा प्रेम करने लगती है और क्षणिक सुखों में ही अपने जीवन की इतिश्री मान लेती है, तो समझ लेना चाहिए कि वह आत्मा प्रेयमार्ग की ओर गमन कर रही है । यह प्रेयमार्ग ही विश्व की अशांति का कारण है और यही विषमता की जड़ है । मानव के मस्तिष्क की विकृति इसी से बनती है । यह दशा आज से नहीं, कल से नहीं, संख्यात वर्षों से ही नहीं । असंख्यात वर्षों से भी नहीं, किन्तु अनादिकाल से चली आ रही है, फिर भी आत्मा को इन क्षणिक पदार्थों से तुष्टि नहीं हो रही है ।

यह सब अज्ञान दशा अथवा अविद्या की अवस्था है । कर्मों के झंझावातों से आत्मा अपने वास्तविक मार्ग से भटकी हुई है । इस प्रकार

भटकी हुई आत्मा को स्वयं का रूप अर्थात् श्रेयरूप दिखलाई नहीं पड़ता है। एक मानव तन में भी यदि वह अपने श्रेयमार्ग का वास्तविक रूप समझ ले तो इस लोक और परलोक में अपने भव्य जीवन का निर्माण कर सकती है।

प्रभु के पवित्र स्वरूप को सामने रख कर स्वयं के जीवन में श्रेय मार्ग अभिव्यक्त किया जा सकता है, जिसे आध्यात्मिक मार्ग भी कह सकते हैं। कई भाई-बहिन आध्यात्मिक शब्द पढ़ते ही हैं परन्तु ऐसा कभी नहीं सोचते कि अध्यात्म है क्या ? अध्यात्म किसको कहना चाहिए ? वक्ता भी अपने भाषणों में भौतिक और आध्यात्मिक इन दो शब्दों का जिक्र करते हैं। परन्तु जनमानस में इन दोनों शब्दों का यथार्थ रूप नहीं आ पाता है। वे केवल शब्दों में उलझ जाते हैं। इसलिए कवि आनन्दघन जी ने अपनी कविता में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

शब्द अध्यातम अर्थ सुणीने, निर्विकल्प आदरजो रे।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हाण ग्रहण मति धरजो रे।

अध्यात्म भी एक शब्द है। कंठ, तालु, ओष्ठ आदि से जैसे अन्य शब्दों का उच्चारण किया जाता है, वैसे ही इस शब्द का भी उच्चारण होता है। परन्तु अध्यात्म शब्द के पीछे रहे हुए अर्थ का अनुसंधान करना आवश्यक है। यदि मनुष्य इसके अर्थ को सही तरीके से समझ लेता है तो आध्यात्मिक स्वरूप का विज्ञान उसके मस्तिष्क में आ सकता है और फिर वह श्रेयमार्ग के गहन तत्त्व को समझने का प्रयास कर सकता है।

दुनिया को सावधान करने की दृष्टि से ज्ञानीजनों का कथन है कि तुम नाम-अध्यात्म, स्थापना-अध्यात्म और द्रव्य-अध्यात्म इन तीनों के विषयों को समझने में सावधानी रखो। इनमें उलझो मत। परन्तु इनको छोड़ कर तुम भाव-अध्यात्म में ही रमण करो। इस भाव-अध्यात्म को ग्रहण करते समय इसके अन्दर रहे हुए अर्थ का अनुसंधान किया जाए। शब्द को सुन कर उसके निश्चित निर्विकल्प अभिप्राय को ग्रहण करो।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अध्यात्म का अर्थ है—अतति सततभावेन

जाग्रदादि सर्वावस्थासु अनुवर्तते इति आत्मा—अर्थात् निरंतर रूप से जाग्रत और सभी अवस्थाओं में जो अनुवर्तन करता है, रहता है, वह आत्मा है और आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्—अर्थात् आत्मा के अंदर रमण करना अध्यात्म है।

इस विश्व में प्राणियों का जो रूप दिखलाई दे रहा है, वह सब आत्मिक शक्ति का दृश्य है। आप रंग-बिरंगी पगड़ियां या टोपियां लगाये हुए अथवा नंगे सिर बैठे हैं। आपकी पगड़ियां भिन्न-भिन्न हैं, टोपियां अलग-अलग हैं और वस्त्र तथा वेशभूषा में भी अंतर है परन्तु सामान्य दृष्टि से मानव-मानव में अंतर नहीं है। मनुष्य के रूप में सब एक हैं। परन्तु विशेष-दृष्टि से यदि पुनः चिन्तन किया जाए तो मानव-मानव में भी भिन्नता दृष्टिगत होती है। सभी मनुष्य एक ही सांचे में ढली हुई वस्तु की तरह एक सरीखे नहीं है। सामान्य रूप से उनमें एक समान आकृति दिखलाई देती है। कान, आंखें, नाक, मुंह, हाथ-पैर और शरीर, इनकी दृष्टि से तो समानता है परन्तु यदि आप विशेष रूप से मानवों का आकार देखेंगे तो उनमें एकरूपता नहीं, किन्तु विचित्रता मिलेगी। जब किसी मशीन से वस्तुएं तैयार की जाती हैं तो उससे जितनी वस्तुएं बनती हैं, वे सब एक ही आकार की होती हैं। परन्तु मानव का ढांचा एक सरीखा नहीं है। सहज ही मनुष्य यह सोच सकता है कि इस विभिन्नता के पीछे कारण है। माता-पिता की विविधता है, इसीलिए मनुष्यों की आकृतियों में भी भिन्नता है। परन्तु यह हेतु भी ठीक नहीं बैठता है। माता-पिता भिन्न न हों, तब भी एक ही माता-पिता की सब संतानें एक सरीखी नहीं होती हैं। एक ही माता की कुक्षि से पैदा होने वाली संतानों में भी आप भिन्नता देखेंगे—शारीरिक दृष्टि से, बौद्धिक दृष्टि से और मानसिक दृष्टि से भी। वे सब विचित्रतायें होने पर भी आप उनमें एक समान-तत्त्व अवश्य पायेंगे और वह तत्त्व है चैतन्य स्वरूप आत्मा।

सब आत्मायें दुःख को अप्रिय समझती हैं और सुख उन्हें प्रिय

है। सब दु:ख से बचने का प्रयास करती हैं और सुख की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करती हैं। 'मैं हूं' और 'मेरे सामने यह व्यक्ति है' इतना ज्ञान तो हर एक आत्मा में पाया जाता है और इस छोटे से ज्ञान की दृष्टि से यदि आप चिन्तन करेंगे तो यह समानता सब में मिलेगी। शास्त्रीय दृष्टि से कहा जाए तो सब शरीरों के बीच में रहने वाली आत्मायें योग्यता की दृष्टि से एक सरीखी हैं। उनमें भिन्नता नहीं है।

हिलने-चलने आदि की क्रियायें इस आत्मा की उपस्थिति में ही होती हैं। खाने-पीने का पुरुषार्थ भी इस आत्म-शक्ति के रहने पर ही होता है। छोटे बच्चे के समक्ष भी यदि कड़वी वस्तु रख दी जाए तो वह ग्रहण नहीं करेगा। वह मीठे (मधुर) पदार्थों को ही खाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार कड़वे और मीठे पदार्थों की पहचान करने वाला कौन है? मोटे तौर पर तो व्यक्ति यही सोचता है कि उसकी पहिचान करने वाली जिह्वा है। परन्तु आप गहराई से विचार करेंगे तो ज्ञात होगा कि जिह्वा नहीं है। जिह्वा तो एक मुर्दे में भी विद्यमान है। उस की जिह्वा पर आप मीठा पदार्थ रखिए तो वह मीठे के जायके का अनुभव नहीं करेगी या कालकूट जहर रख दीजिए तो भी उस जहर का अनुभव नहीं कर सकती। इससे यह भली-भांति सिद्ध होता है कि जिह्वा कड़वे और मीठे का अनुभव करने वाली नहीं परन्तु उसके अंदर रहने वाला जो तत्त्व है, वही उसका अनुभव करने वाला है। वह तत्त्व विज्ञानवान है और इस प्रकार प्रतीति कराता है कि कटु पदार्थ खाने से हानि होगी और मधुर खाने से पुष्टि। परन्तु जो व्यक्ति आत्मस्वरूप को भूल कर सिर्फ जिह्वा को ही सब कुछ समझता है या नेत्रों को अथवा नासिका या श्रोत्रेन्द्रिय आदि को ही महत्त्व देता है, वह प्रेयमार्ग का अनुगामी है। उसकी आत्मा अज्ञान से आच्छादित है। अज्ञान संसार के दु:ख का कारण है और वही विषमता की सृष्टि करने वाला है। इसी प्रेयमार्ग का अनुसरण करने के कारण ही आत्मा की दुर्दशा हो रही है। इन्सान जब अपने आपको भूलता है तब उसकी ऐसी ही दशा होती

हैं। यदि वह इससे मुड़ कर अपनी मूल दशा में आ जाए और चिन्तन करने लगे कि मैं आत्मा हूं और मेरी जो आंतरिक शक्तियां हैं, वे यदि सही ज्ञान के साथ हैं तो आध्यात्मिक-सुख की उपलब्धि हो सकती है और निज स्वरूप के प्रकट होने से विश्व के सामने भी समता-सिद्धांत का सही रूप आ सकता है। यदि इस प्रकार का चिन्तन चला तो उसका श्रेयमार्ग में समावेश होगा और वह आध्यात्मिक शक्तियों को भलीभांति समझ सकेगा तथा अध्यात्म शब्द के निर्विकल्प अर्थ को ग्रहण करेगा।

आत्मा के सद्भाव में मेरी काया की यह रौनक है, जिसकी उपस्थिति में मैं सुख-दुःख का संवेदन कर रहा हूं, जिसके रहने पर मैं पुरुषार्थ कर सकता हूं, वह तत्त्व निश्चित है, दिव्य-रूप है, अमर है। उसको मैं कभी भी विस्मृत नहीं करूं। यदि उसने इस प्रकार का अर्थ अध्यात्म शब्द से ग्रहण किया तो वह व्यक्ति अवश्य आध्यात्मिक शक्ति की ओर बढ़ सकता है। इसीलिए कविता में संकेत है कि—

'शब्द अध्यातम अर्थ सुणीने निर्विकल्प आदरजो रे।'

निर्विकल्प का मतलब यह है कि संशय-रहित होकर उस तत्त्व को ग्रहण करो। यदि कोई इस संशय में पड़ा कि मेरी आत्मा है या नहीं? मैं जो शुभ कर्म कर रहा हूं, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं, परलोक है या नहीं, आत्मशक्ति का सुख है या नहीं, परमात्मा है या नहीं तो ये सब विकल्प हैं। ये विकल्प मोहजनित हैं, अज्ञान से परिपूरित हैं। इनमें उलझने वाली आत्मा निर्विकल्प अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकती है। इसलिए सबसे पहिले अध्यात्म शब्द सुनते ही मन में संशय-रहित भावना पैदा हो जाए कि अध्यात्म शब्द का अर्थ यह है कि इस शरीर-पिंड में रहने वाली मेरी आत्मा भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी। जो त्रिकाल अबाधित तत्त्व है, वह मेरा है और वही अध्यात्मजीवन का मूल है। इस प्रकार अध्यात्म शब्द को ग्रहण किया गया तो इन्सान जीवन की सभी विषमताओं का शमन करने के लिए तत्पर होगा। फिर उसकी अवस्था सिर्फ शब्द तक सीमित नहीं रहेगी।

सब में रहने वाली आत्मायें योग्यता की दृष्टि से समान हैं परन्तु उन आत्माओं ने क्वचित् अर्थ को ही ग्रहण किया, अतः विचित्रता पैदा हुई। यदि संसार की सभी आत्मायें सांसारिक पदार्थों में न उलझ कर अध्यात्म जीवन के पूर्ण लक्ष्य को ग्रहण करें और ऐसा चिन्तन करें कि जितनी भी आत्मायें हैं, वे सब मेरी जैसी आत्मायें हैं, मेरे तुल्य हैं, तभी कल्याण हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो योग्यता की दृष्टि से वे परमात्मा के तुल्य हैं और जब ऐसी स्थिति है तो इन आत्माओं के साथ मैं द्वन्द्व क्यों करूं, धोखेबाजी क्यों करूं ? यदि मैं आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से चिन्तन नहीं करता हूँ तो मैं परमात्मा के साथ धोखा करता हूं। मैं मनुष्य को नहीं ठगता हूं परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा को ठगता हूं। मैं अपने पड़ौसियों को धोखा देकर प्रसन्न होता हूं तो आध्यात्मिक दृष्टि का चिन्तन मुझे बताता है कि तू आध्यात्मिक नहीं है, भौतिक है। तू पड़ौसियों को अपने तुल्य नहीं समझ रहा है। यदि समाज की विषमता को देखकर कोई खुश होता है तो समझना चाहिए कि वह भौतिक है आध्यात्मिक नहीं है, अज्ञानी है। समाज मेरे भाइयों का समूह है। मैं अपनी हवेली में बैठ कर गुलछर्रे उड़ाता हूं और यह सोचता हूँ कि मेरे पास तो पक्का मकान है, तीन मंजिली हवेली है, मैं तो सब तरह से सुखी रह सकता हूं। मेरे पास में रहने वाले गरीबों की झोंपड़ियां भले ही जलें, नष्ट हों, मेरा क्या बिगड़ता है। यदि इस प्रकार का चिंतन है तो यह बहुत बड़े अज्ञान का चिन्तन है। वह नहीं सोच पाता है कि यह हवेली बनाई किसने है ? इसको बनाने वाले कौन हैं ? क्या स्वयं मेहनत करके बनाई है यह हवेली ? इसके निर्माण में उसने अपने शरीर का श्रम लगाया है या श्रम करने वाले दूसरे हैं ? जिन्होंने श्रम करके हवेली को बनाया है, वे व्यक्ति झोंपड़ियों में रह रहे हैं। उनको कितना क्या कष्ट हो रहा है, आवश्यक सामग्री भी उनको मिल रही है या नहीं, उनकी दशा कैसी है ? यदि वे इसमें सहयोग नहीं देते तो तीसरी

मंजिल पर नहीं बैठा जा सकता था। तीसरी मंजिल पर बैठाने का श्रेय किसी को है तो उन श्रम करने वाले व्यक्तियों को ही है। याद रखना चाहिए कि पड़ौसियों और श्रम करने वालों के साथ आत्मीयता का व्यवहार नहीं रखा तो आप भी क्या सुरक्षित रह सकेंगे ?

आज हिन्दुस्तान की दशा बड़ी विचित्र है। जिस देश का अधिकांश भाग गांवों में रह रहा है; उन ग्रामीण व्यक्तियों की दशा क्या है ? वे क्या सोच रहे हैं ? वे जैसे-तैसे अपने पेट पर पट्टी बांध कर जीवन बिता रहे हैं ? इनके जीवन की दशा दयनीय हो रही है। परन्तु यह सब देखने-सोचने की फुर्सत किसको है ? कहावत है—"मरे जो दूजा, हम करायें पूजा।" दूसरे लोगों की कैसी भी दशा हो, हमको इसकी कोई परवाह नहीं। हमारा उनके साथ कोई संबन्ध नहीं। परन्तु हमारा ऐसा सोचना ज्ञान के साथ है या अज्ञान के साथ है ? क्या इन भाइयों के साथ हमारा कोई संबन्ध नहीं है ? वे भाई जिस रोज संबन्ध नहीं रखेंगे, उस दिन ज्ञात होगा कि हमारी क्या दशा बन रही है ? हमें जिन्दा रहने का अवसर तभी मिलेगा, जब उन व्यक्तियों के साथ आत्मीय-संबन्ध बनाये रखेंगे। भले ही आज वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं परन्तु सब हमारे साथी हैं। इनके साथ हर व्यक्ति की आत्मीय भावना होनी चाहिए और चिन्तन करना चाहिए कि ये मेरे भाई हैं, मैं इनका भाई हूं।

आज के अधिकांश भाई यही सोचते हैं कि मजदूरी का काम तो मजदूरों का है। हम मेहनत-मजदूरी क्यों करें ? यह व्यर्थ का बड़प्पन मध्यम-वर्ग में विशेष रूप से देखने में आता है। अरे ! मजदूरी करना कोई छोटा काम नहीं है। इस झूठी प्रतिष्ठा के भ्रम में फंसे हुए मध्यम-वर्ग की स्थिति क्या है ? यह वर्ग बड़ी बुरी तरह से पिसा जा रहा है। उसकी आमदनी के जरिए टूट रहे हैं और दो पाटों के बीच में जैसे दाने पिस जाते हैं, वैसे ही मध्यम-वर्ग पिसा जा रहा है। ऐसी दयनीय स्थिति में भी मध्यम-वर्ग अपनी झूठी इज्जत को लेकर चल रहा है और अभी तक भी इस वर्ग में जागृति नहीं आई है। इसने कुरीतियों

का भारी बोझ बढ़ा लिया है और व्यर्थ के कार्यों में फिजूल खर्च कर रहा है। कष्ट पाते हुए भी यह कुछ नहीं विचार रहा है। अरे! लौकिक रीति-रिवाजों की बात तो दूर रही परन्तु आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली तपस्याओं के पीछे भी झूठी प्रतिष्ठा और कुरीति का भूत लग गया है। कोई बहिन तपस्या कर रही है। उसने अठाई आदि कर ली तो उसके पीछे भी कितना क्या किया जाता है; उसका हिसाब आप जानते होंगे। तपस्या तो आत्मशुद्धि के लिए होती है, परन्तु उसके पीछे भी बड़े-बड़े आडम्बर होने लगे हैं। यह भी क्या तपस्या है? ऐसी स्थिति कभी पैदा नहीं करनी चाहिये।

चाहे कोई बड़े-से-बड़ा आदमी भी क्यों न हो, वह ऐसा अभिमान न करे कि मैं बड़ा हो गया हूं, अतः छोटों की परवाह क्यों करूं? यदि इस प्रकार का विचार रहा तो यह बड़प्पन कब तक टिकेगा? आज के मनुष्य को अपना चिन्तन करना है। आज उसकी दशा बदल रही है। उसका कर्म बदल रहा है। आज के मानव के जीवन का सारा नक्शा ही बदल रहा है। परन्तु वह अपने कर्तव्य को भूल रहा है। लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि यदि आज का मानव समता-सिद्धांत पर आरूढ़ नहीं हुआ तो उसकी दशा बड़ी दयनीय हो जायेगी। यदि आज उसका कोई सहारा है तो अध्यात्म ही है। हमें उसका ही चिन्तन करना चाहिये। हमारे पास यदि कोई चीज है तो—

यो नो वास्ति तु शक्तिसाधनचयो, न्यूनोऽधिकश्चाथवा।
भागं न्यूनतमं हि तस्य विदधेमात्मप्रसादाय वै।
तत्पश्चादवशिष्टभागमखिलं, त्यक्त्वा फलाशां हृदि।
तदधीनेष्वभिलाषवत्सु वितरेमाङ्गीषु नित्यं वयम्।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरे पास सम्पत्ति का या शक्ति का जो कुछ संचय है, उसका स्वल्प-से-स्वल्प भाग मैं अपने लिए ग्रहण करूं और जो कुछ शेष बचे, वह अन्य अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए समवितरण में काम आए। मैं सब के साथ सहानुभूति रखते हुए

चलूं । यदि इस प्रकार की भावना मानव के मस्तिष्क में आ जाती है तो वह अध्यात्म के धरातल पर अपने आपको टिकाये रख सकता है और संकटग्रस्त दुःखी व्यक्तियों के आंसू भी पोंछ सकता है । वह अध्यात्म-मार्ग, श्रेयमार्ग पर आरूढ़ हो सकता है । यदि वह इस प्रकार का चिन्तन नहीं करेगा तो स्वयं आध्यात्मिक मार्ग से गिरेगा, साथ ही दूसरों को भी गिराने में सहायक (निमित्त) बनेगा ।

कोई व्यक्ति कितना भी संपत्ति-संपन्न क्यों न हो, परन्तु उस सम्पत्ति को यदि कायम रखना है तो जितनी भी जनोपयोगी सामग्रियां हैं, उनके यथा-अवसर समवितरण में आस्था होनी चाहिए । तभी समता-दर्शन की भूमिका पर आध्यात्मिकता का साकार रूप बन सकता है ।

अतः आज के मानव चाहे वे किसी भी दशा में हों, किसी के पास पैसे का धन हो, बुद्धि का धन हो, उन सबको अपने-अपने धन का सदुपयोग करना चाहिये । यदि अपने पड़ौस में, गांव में, राष्ट्र में रहने वाले भाइयों के साथ सद्व्यवहार किया, समवितरण किया तो बंधुओ तभी आपकी आध्यात्मिक सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी ।



बीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण कृष्णा ७

भेद-अभेद-दृष्टि

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामी रे ।

वासुपूज्य परमात्मा के चरणों में जिन भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण किया गया है, उन भावों को अन्तःकरणपूर्वक समझने का प्रयास करें, जिससे कि परमात्मा का सही स्वरूप हमारे समक्ष आ सके । यदि उस आदर्श को समक्ष रखकर चलेंगे तो हमारी स्वयं प्रभु के तुल्य बनने की आकांक्षा भी उसमें गर्भित हो जाएगी ।

सर्वप्रथम परमात्मा के स्वरूप को समझना आवश्यक है । जब यह सचेतन आत्मा केवलज्ञान-युक्त जीवनमुक्त दशा को प्राप्त कर लेती है तब उसे साकार परमात्मा और जब वह सर्वथा शरीर-रहित बन जाती है तब उसे निराकार परमात्म-अवस्था कहते हैं । यह एक दृष्टि-कोण से व्याख्या है । इस विषय को कविता में नय-दृष्टि से समझाया गया है । यहां दृष्टि का तात्पर्य विचारधारा है ।

प्रत्येक तत्त्व को समझने-समझाने के लिए कई दृष्टियां अपनानी पड़ती हैं । वे दृष्टियां कम-से-कम सात हैं । यदि इस सात दृष्टियों से उस वस्तु के स्वरूप को समझा गया तो उसका पूर्ण रूप समझ में आ सकता है । और इन सातों दृष्टियों में भी एक दूसरे के साथ अभिन्नता है, भिन्नता नहीं है ।

मात्र एक ही दृष्टि सर्वज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं कर सकती है । समझने की शक्ति ज्ञान में है । उस ज्ञानशक्ति से समझने के लिए शास्त्रकारों ने संक्षिप्त रूप में उसके दो भाग किए हैं—एक

द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। फिर उसका विस्तार सात विभागों में किया गया है। इन सात विभागों द्वारा यदि परमात्मा को समझने का प्रयास किया गया, आत्मा को समझने की कोशिश की गई, संसार के प्रत्येक पदार्थ को समझने, समझाने का प्रयत्न हुआ तो वे समग्र दृष्टियां सम बन जाती हैं और उससे आत्मा का समग्र रूप समझ में आ जाता है।

आत्म-स्वरूप के साथ ज्ञान का संबंध जोड़ना सर्वथा उपयुक्त होने से सात नयों की उन दृष्टियों को एक रूपक देकर समझ रहा हूं। वह रूपक प्रसिद्ध ही है:—

सात जन्मांध अर्थात् जन्म से अन्धे, जिन्होंने कभी किसी वस्तु को आंखों से नहीं देखा, एक ही गांव में रहते थे। गांव वालों से उन्होंने सुना कि बस्ती में हाथी आया है। उसको देखने के लिए सबकी जिज्ञासा प्रबल बनी। यह खबर उन अन्धों के कानों में भी पहुँच गई। उन्होंने सोचा कि हम भी हाथी को देखें। परन्तु उनके पास देखने का माध्यम अर्थात् नेत्रों का अभाव था। फिर भी उन्होंने सोचा कि नेत्रों से न सही, वे हाथों के स्पर्श से ही हाथी को समझने की कोशिश करेंगे।

इसी भावना से वे सातों भी जहां हाथी था, वहां जा पहुँचे। वहां पहुँचकर उन्होंने हाथी को हाथ लगाने शुरू किए। एक अंधे के हाथ में हाथी का पैर आ गया तो उसने चारों ओर से टटोल कर पैर को देख लिया और निश्चय कर लिया कि हाथी बड़े थम्भे के समान होता है। दूसरे के हाथ हाथी की पीठ पर लग गये तो उसने सोचा कि वह चबूतरे सरीखा होता है। उसने भी निश्चय कर लिया कि मैंने हाथी को समझ लिया है। तीसरे अन्धे के हाथ में हाथी की पूंछ आई। वह कल्पना करने लगा कि हाथी रस्सी की तरह होता है और मैं इसे भलीभांति समझ गया हूं। चौथे के हाथ में हाथी के दांत आ गए। उसने सोचा कि हाथी तो मूसल सरीखा होता है और उसका अन्य कोई स्वरूप नहीं है। एक के हाथ में हाथी की सूंड आ गई। उसने भी कल्पना कर ली

कि हाथी तो अजगर सरीखा होता है। एक का हाथ हाथी के उदर की ओर गया। उसने नीचे के पेट को टटोला था। वह सोचने लगा कि हाथी पाटिये सरीखा होता है। सातवें अंधे के हाथ में हाथी का कान आया। उसने निश्चय कर लिया कि हाथी छाजले के समान होता है।

इस प्रकार इन सातों अंधों ने अपने हाथों के सहारे हाथी को परखा और फिर अपने स्थान पर पहुंच कर वे उसके बारे में चर्चा करने लगे। उनमें से एक बोला कि आप लोगों ने हाथी को देखा है, वह कैसा है ? सब बोल उठे—"हां, देखा है।" वह बोला—"अच्छा, बतलाओ कि वह कैसा है ?"

तब जिसने हाथी का पैर पकड़ा था, वह कहने लगा कि हाथी थंभे सरीखा होता है। इस पर पीठ छूने वाला बोला, "तेरा कथन मिथ्या है। तू समझ नहीं पाया। हाथी तो चबूतरे सरीखा होता है। यह सुनते ही पूंछ पकड़ने वाला उछल पड़ा और बोला, "तुम दोनों गलत बोल रहे हो। हाथी तो रस्सी जैसा होता है।"

इस पर दांत को छूकर हाथी की जानकारी करने वाला उन तीनों की बात सुन कर बोला, "तुम बकवास करते हो। हाथी तो मूसल सरीखा होता है।" इतने में ही सूंड छूने वाला बोला, "हाथी मूसल सरीखा नहीं, वह तो अजगर सरीखा होता है।" छठे अंधे ने कहा, "अरे, हाथी तो पाटिये सरीखा है।" सातवां अंधा बोल उठा, "नहीं, नहीं, वह तो छाजले जैसा है।"

इस प्रकार वे सातों अंधे अपनी-अपनी बात पर ही जोर देते हुए एक-दूसरे से झगड़ने लगे। एक कहता था कि हाथी को मैंने सही रूप में देखा है और दूसरा कहता था कि मैंने उसे सही रूप में देखा है। परन्तु उन्हें सही स्थिति समझाये कौन ?

इतने में ही आंखों वाला एक व्यक्ति उधर से निकला। उन सातों अंधों को झगड़ते हुए देख कर वह कहने लगा, इस प्रकार से झगड़ा करके तुम हाथी के सही स्वरूप को नहीं समझ सकते। तुम्हारे

नेत्र नहीं हैं और इसी कारण यह झगड़ा हो रहा है। हाथी के एक-एक अंग को छूकर ही आप अपनी-अपनी समझ के अनुसार बोल रहे हैं और मात्र एक-एक बात पर ही बल दे रहे हैं कि हाथी तो रस्सी, मूसल, थंभा, छाजला, चबूतरा, अजगर और पाटिये सरीखा ही है। ये तो उसके अवयव हैं और इनमें से कोई एक समग्र हाथी नहीं है।

अंत में उस समझदार व्यक्ति ने प्रकट किया कि तुम सातों का कहना यदि अपेक्षा-दृष्टि से है तो सही है और यदि तुम अपेक्षा-दृष्टि को छोड़ कर एकान्तरूप से कथन कर रहे हो तो वह मिथ्या है। इस मिथ्या-दृष्टि से तुम वास्तविक तत्त्व को समझ नहीं पाओगे।

बंधुओ, यह रूपक तात्त्विक-दृष्टि को समझाने के लिए है। प्रभु के विषय में मनुष्य यदि एकांगी चिन्तन करे और एक ही दृष्टि से उनका एक-एक रूप देखें तो प्रभु का समग्र स्वरूप दृष्टि में नहीं आ सकता है क्योंकि प्रभु तो अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं। यदि अनन्त दृष्टि से देखेंगे तो अनन्त की गिनती नहीं कर सकते हैं। किन्तु उनका विभाग करके आप सात नय-दृष्टियों से परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे तो भगवान का सही स्वरूप ठीक तरह से समझ पाएंगे। उनमें से दो दृष्टिकोण मैं आपके सामने रख रहा हूं। कवि ने कहा है कि—

'निराकर साकार सचेतन………………।'

प्रभु के स्वरूप को समझाने के लिए एक दृष्टिकोण दो धाराओं में बह रहा है—एक सामान्य ज्ञानधारा (निराकार) और एक विशेष ज्ञानधारा (साकार)। निराकार की दृष्टि अनेक दृष्टियों से प्रतिवद्ध हो रही है। अभेद ग्राहक एक नय है, जिसको संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनय की दृष्टि सामान्य को ग्रहण करती है, वह विशेष भेद नहीं करती है। इसीलिए अभेद (संग्रह) नय यह कहता है कि 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। आत्मा एक ही है, ऐसा वह नहीं कहता है। आत्मा एक है, इसमें संग्रहनय की दृष्टि है। अभेद नय से आत्मा के समग्र तत्त्वों (गुणों) की दृष्टि से आप ऐसा कह सकते हैं। परन्तु समग्र दृष्टि से 'एक

ही है' यह गलत है। आत्मा अनेक भी हैं, यह सत्य है। वैसे ही—'एगे सिद्धा', परमात्मा एक है। यह अभेद दृष्टि है। परमात्मा के अनन्त स्वरूपों को एक स्वरूप में आप संग्रहनय की दृष्टि से ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए कि यह दृष्टि अभेद ग्राहक है। वह निराकार है, उसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं कर सकते हैं किन्तु सामान्य रूप से जान सकते हैं। इसमें भेद नहीं हो सकता है। इसलिए वह निराकार दृष्टि है। जैसे मनुष्य जाति एक है। अब मनुष्य जाति एक है तो इस शब्द में कौन मनुष्य बाकी रहेगा? हिन्दुस्तान के सभी मनुष्य आए या नहीं? क्या कोई बाकी रह गया? हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, रूस, अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी, जापान आदि कहीं का भी मनुष्य बाकी नहीं रहा। मनुष्य कहने से सबका ग्रहण हो गया। यह कथन सामान्य दृष्टि से, अभेद-ग्राह्य दृष्टि से है। परन्तु मनुष्यों का जब भेद करेंगे, तब व्यवहार नय की दृष्टि से भेद होगा। मनुष्य अनेक हैं तो उनकी आकृतियां भी अलग-अलग हैं। इसीलिए मनुष्यों की गिनती होती है—एक, दो, तीन, चार आदि। मनुष्य एक है और अनेक हैं। एक में सबका ग्रहण और अनेक में सबका विभक्तिकरण है। संग्रहनय की दृष्टि से मनुष्य एक है, ऐसा कहना गलत नहीं है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से मनुष्य अनेक हैं, ऐसा कहना भी गलत नहीं है। इस दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो मनुष्यों में द्वन्द्व नहीं होगा। इसी तरह संग्रहनय की दृष्टि से परमात्मा एक है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक है। अतः उसको निराकार और साकार कहेंगे तो कोई द्वन्द्व, भेद नहीं होगा और हम परमात्मा के स्वरूप को सही तरीके से समझ लेंगे, तभी आत्मा के स्वरूप को सही तरीके से समझ पाएंगे।

बंधुओ, दार्शनिक बात बड़ी गहरी होती है। परन्तु मैं कहूंगा कि यदि आप परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को और परमात्मा के मार्ग को पाना चाहते हैं तो आपको इन बातों को समझना होगा। आज नहीं तो कल समझना होगा।

यह बात सही है कि जो व्यक्ति सदा हलका भोजन करता है,

उसकी जठराग्नि कमजोर पड़ जाती है। यदि वह सहसा गरिष्ठ भोजन कर ले तो उसे पचा नहीं सकेगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति हलकी और भारी सब चीजों को खाने का मुहावरा रखता है, वह सबको पचा लेता है। जैसी यह भोजन पचाने की स्थिति है, वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति है। अधिकांश व्यक्ति सहज चीजों को—कथा अथवा दृष्टांत को जल्दी ग्रहण करने की स्थिति में रहते हैं। परन्तु यदि आप केवल कथाभाग में ही रस लेंगे और उसके साथ ही यदि दार्शनिक तत्त्व समझने का प्रयास नहीं करेंगे तो आपका आंतरिक जीवन परिपुष्ट नहीं हो पाएगा। इन चीजों का मुहावरा कम है तो इसका अभ्यास बढ़ायें। इनको समझने का प्रयास करें। इस प्रकार से प्रयास किया तो आत्मा की आंतरिक स्थिति उल्लसित होगी और बाह्य स्थिति सुधरेगी और जब स्थिति सुधरेगी तो मानव-समुदाय के साथ शांति से रहना सीखेंगे।

आज मनुष्य लड़ क्यों रहा है ? एक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्यों में सही ज्ञान नहीं है ? मनुष्य-जन्म तो पा लिया परन्तु मनुष्य क्यों है, क्या है, इसका ज्ञान न होने से अपने ही भाइयों से टकरा रहा है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को शत्रु समझ रहा है—यह मेरा प्रतिपक्षी है, दुश्मन है। अरे, कौन है दुश्मन ? तुम्हारी कलुषित मानसिक वृत्ति ही तुम्हारी दुश्मन है। जैसे एक व्यक्ति दूसरे को दुश्मन समझता है, वैसे ही दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को समझता है। ऐसा करते-करते मनुष्य शांति से रहना भूल जाते हैं। यहां तक कि परिवार में भी अशांतिमय द्वंद्व पैदा हो जाता है और लोग भेद-अभेद की दृष्टि छोड़ कर लड़ने लग जाते हैं। इस प्रकार लड़ाई-झगड़े में यह जिन्दगी कुत्ते-बिल्ली की तरह व्यर्थ ही चली जाएगी। आप शांति से चिन्तन कीजिए। यह जिन्दगी कुत्ते-बिल्ली की तरह बिताने को नहीं मिली है। यदि छोटी-छोटी बातों के लिए मन में गांठ बांधकर चले और व्यक्ति, परिवार, समाज के हित को ध्यान में नहीं रखा तो क्या यह भी कोई जीवन है ? यह वृत्ति तो पशुओं में भी नहीं होती

है। वे भी टोली बनाकर चलते हैं। उनमें द्वेष और ईर्ष्या की आग नहीं सुलगती है। नमें प्रायः बड़ा प्रेम और स्नेह रहता है। एक ही टोले के पशुओं में कितनी हमदर्दी है, उसकी कल्पना जंगली पशुओं को देखकर करें तो आप आश्चर्य में पड़ जाएंगे।

मैंने सुना है कि चँवर के शौकीन कई व्यक्ति चँवरी गाय की पूंछ के बाल लाने के लिए जंगली लोगों को ठेका दे देते हैं और वे जंगली लोग पैसों के लालच में आकर चँवरी गायों के विश्राम करने के स्थानों पर वृक्षों पर चढ़ कर बैठ जाते हैं। उस समय वे निर्दयी लोग निशाना बांध कर उन गायों की पूंछ पर शस्त्र प्रहार करते हैं, जिससे उनकी पूंछें कट जाती हैं और वे चिल्ला कर भागती हैं। यह भी सुना गया है कि पूंछ कट जाने से उन्हें इतनी वेदना होती है कि उनके प्राण नहीं बच पाते। ठेकेदार लोग लालच में आकर धोखे से उनकी पूंछ काटने का काम करते हैं। यदि कोई व्यक्ति चँवरी गाय के सम्मुख जाकर उसकी पूंछ काटने का प्रयास करे तो वे ऐसे व्यक्ति को कभी अपने पास तक नहीं फटकने देंगी। मनुष्य ही क्यों, यदि जंगली हाथी या शेर भी आ जाए तो वे सब अपनी रक्षा के लिए व्यूह बना लेती हैं और अपने बच्चों को बीच में लेकर खड़ी हो जाती हैं।

जंगली पशुओं का समूह देखिए अथवा पक्षियों का समूह देखिए कि वे एक-दूसरे के प्रति कितनी सहृदयता और समभाव की वृत्ति रखते हैं। एक-दूसरे की रक्षा के लिए वे कैसे तैयार रहते हैं। वहां द्वेष की भावना नहीं है। कोई प्रसंग आ गया तो सब एकमत होकर चलते हैं। उनमें एकत्व की भावना है।

क्या ऐसी भावना आज मनुष्यों में है? आप सोचें और समझें। फिर आज के मानव की दुर्दशा देखें। आज लोग अपने घर में, परिवार में, समाज में और राष्ट्र में लड़ने को तैयार रहते हैं और आपस में दुश्मन बन जाते हैं। इससे कितना नुकसान हो रहा है, इस विषय में उनको जरा भी ध्यान नहीं है। परिवार, समाज, राष्ट्र में कैसी

खाई पड़ रही है, कितना अहित हो रहा है, इसका उन्हें जरा भी ध्यान नहीं रहता है। वे तो परिवार, समाज और राष्ट्र को क्षति पहुंचाने के लिए तैयार हैं और जो व्यक्ति परिवार आदि को नष्ट करने के लिए तैयार है तो क्या ऐसे मनुष्यों को मनुष्य कहें ? क्या उन्हें समदृष्टि कहें ? आप ही फैसला करें। आप सब मौन धारण करके सुन रहे हैं और सोच रहे हैं कि यह बात तो हम पर भी लागू होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति छोड़ने के योग्य है।

यह मनुष्य-तन कभी-कभी ही मिलता है। यदि मनुष्यों में परस्पर प्रेम नहीं रहा और ईर्ष्या-द्वेष का त्याग नहीं किया तो यह मनुष्य का जीवन मिलना और न मिलना बराबर है। इससे तो पशु का जीवन ही ठीक कहा जा सकता है।

शरीर की दृष्टि से मनुष्य जाति का समुदाय एक है। परन्तु आज का मानव शरीर तक ही सीमित नहीं रहा है। उसने वर्णभेद की भी दीवारें खड़ी कर दी हैं—ये काले मनुष्य हैं और ये गोरे मनुष्य हैं। अरे, कोई चमड़ी का काला या गोरा है तो इससे क्या मनुष्य की आत्मा में भी भेद आ गया ? यह छूत है और यह अछूत है। किसको छूत-अछूत समझते हो ? उसके पीछे कोई सिद्धांत है क्या ? यदि आपने अछूत को छू लिया तो क्या अछूत हो गए ? फिर स्नान करोगे तो पवित्र और यदि नहीं करोगे तो क्या अपवित्र रहोगे ? क्या पानी अछूतपन को धो डालता है ?

जो हिन्दुस्तान अखण्ड था, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए। अब और कितने टुकड़े करना चाहते हो ? आज अलग-अलग गुट या पार्टियां बन गई हैं। वे चाहे राजनीति की दृष्टि से हों या अन्य किसी दृष्टि से हों, परन्तु वे भेद की दृष्टि ही अपना रही हैं। वे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझ रही हैं। वे अपने ही भाइयों को आपस में टकरा रही हैं। किन्तु मानव यदि भेद और अभेद दोनों दृष्टि अपना कर चलता रहे तो भिन्नता नहीं आ सकती। अतः दोनों दृष्टियों से समभाव

के साथ चलने का प्रयास करेंगे तो आत्मा के स्वरूप को समझ सकते हैं।

आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर के जीवन-चरित्र को देखते हैं तो पता चलता है कि उनका स्वयं का जन्म क्षत्रिय-कुल में हुआ था। वे क्षत्रिय राजकुमार थे। उनके गणधरों को देखिए तो गौतम स्वामी ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाले दिग्गज विद्वान और चारों वेदों के पाठी थे। सुधर्मास्वामी भी ब्राह्मण-जाति में जन्म लेने वाले थे। धन्ना शालिभद्र का जिक्र सुनते हैं तो वे वैश्य-जाति के थे। अर्जुन माली और हरिकेशी श्रमण सरीखे व्यक्ति जाति से शूद्र थे। परन्तु उनका गुण और कर्म एक हो गया था। वे एकरूप में चलने लगे। गुण और कर्म द्वारा वहां कृत्रिम जाति-भेद नहीं रहा। किन्तु—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

आप कह सकते हैं कि यह तो बहुत पुरानी बात है। क्या वर्तमान में ऐसी समानता प्रकट हुई है? ऐसी समानता कुछ तो हुई है और कुछ आगे भी हो सकती है।

आपने अभी गांधी-युग देखा है। मैं गांधीजी के समग्र जीवन की बात नहीं कहता हूं। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दृष्टि से अहिंसा और सत्य की भावना अपनाई। वे मानव-भावना के साथ चले। उन्होंने छुआछूत त्यागने को कहा। वे स्वयं मोड जाति के बनिये थे। परन्तु उनके साथ पं० जवाहरलाल नेहरू काश्मीरी ब्राह्मण थे, मौलाना आजाद और खान अब्दुल गफ्फार खां मुसलमान थे। विनोबा भावे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हैं। जमनालाल बजाज सरीखे वैश्य भी थे। ये सब के सब गांधीजी के साथ घुलमिल गए। परन्तु यह स्थिति तभी बनी जबकि गुणों के साथ अभेद दृष्टि रखी गई। व्यक्तियों में यद्यपि भेद था, परन्तु ऐसा होने पर भी गुणों की दृष्टि से समानता थी। गुणों का उन्होंने थोड़ा-सा अंश ग्रहण करके देश के सामने एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

आज का मानव तो मांग कर रहा है। वह कह रहा है कि मानव अपने जीवन में मानवता लाये और मानव-मानव की आत्मा को समझने का प्रयास करे। अभेद दृष्टि से मनुष्य एक भी है और भेद-दृष्टि से अनेक भी हैं। इसी तरह परमात्मा एक भी है और अनेक भी है। इसलिए परस्पर संघर्ष मत करो। मानव यदि समन्वय की दृष्टि से चले तो शांति का अनुभव कर सकता है।



वीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण कृष्णा ११

सत्-चित्-आनंद

वासुपूज्यजिन त्रिभुवन स्वामी घननामी परनामी रे ।

परमात्मा के चरणों में भव्यात्माओं का अंतर्नाद किसी-न-किसी माध्यम से प्रकट हो जाया करता है । भव्यात्मायें जब प्रभु का दर्शन अपने अन्तःकरण में करने का संकल्प करती हैं तो प्रभु को स्मृति-पटल पर लाने का उनका प्रयास निरन्तर चालू रहता है और अंतश्चेतना में एक हूक पैदा हो जाती है ।

इस दृश्य जगत् में अनेकों प्राणी अपनी विविध क्रियाओं द्वारा कार्य कर रहे हैं, परन्तु उन्हें प्रभु के दर्शन नहीं हो रहे हैं । इस आत्मा ने अनादिकाल से संसार के पदार्थों का अनुभव किया है और करती ही चली जा रही है । परन्तु इन नाशवान पदार्थों के बीच उस अविनाशी तत्त्व का अंश भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है । परमात्मा का स्वरूप कहां है ? कितनी दूर है ? उनको कैसे पाया जाये ? इन सब प्रश्नों का हल एक ही स्थल पर हो सकता है । दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किसी और स्थान का अवलोकन करने की भी आवश्यकता नहीं है । किन्तु जहां यह प्रश्न उठ रहा है, वहीं प्रश्नकर्ता स्वयं प्रश्नकर्ता को देख लेता है तो उसकी जिज्ञासा शांत हो जाती है । परन्तु प्रश्नकर्ता स्वयं के स्वरूप को नहीं देख पा रहा है । जहां से प्रश्न का आविर्भाव हो रहा है, उस भूमिका के दर्शन यदि कर लिए जायें तो परमात्मा कहां है, आत्मा कहां है—इन दोनों प्रश्नों का हल एक ही साथ हो जायेगा । यह प्रश्न-कर्ता इस शरीर के अंदर है, बाहर नहीं है । आंतरिक शक्ति को नहीं पहिचानने के कारण ही बाह्य दृष्टि उसके समक्ष है । अंतर्जीवन के

महत्त्व का मूल्यांकन भलीभांति नहीं होने से ही नाशवान तत्त्वों का मूल्यांकन किया जा रहा है। वह अंदर की दिव्य-शक्ति चेतना(ज्ञान)रूप है। उसके एक ओर सत् तथा दूसरी ओर आनन्द ये दो अवस्थायें और हैं अर्थात् सत्-चित् और आनन्द इनके बीच का तत्त्व चित् है। बीच की अवस्था को यदि समझ लें तो सत् भी देख सकते हैं और आनन्द भी प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन बीच के तत्त्व को यदि नहीं पकड़ा तो न सत् पा सकते हैं और न आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। परमात्मा का समग्र स्वरूप सत्-चित् और आनन्द रूप है।

सत् का तात्पर्य है—'कालत्रय तिष्ठतीति सत्।' तीनों काल में जिसका अवस्थान हो, तीनों काल में जो स्थायी रहता हो, वही सत् है। भूतकाल में जिसका अस्तित्व हो, वर्तमान में भी हो और भविष्य में भी रहे, ये तीनों अवस्थायें काल की दृष्टि से जिस तत्त्व की रहती हैं, वही तत्त्व सत् कहला सकता है। परन्तु सिर्फ कालकृत इन तीन अवस्थाओं के रहने पर भी आनन्द और चित् की अनुभूति नहीं होती है क्योंकि ये तीनों अवस्थायें तो आत्मा से शून्य जड़-तत्त्व में भी पाई जाती हैं। जैसे कि यह स्तम्भ भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। इसलिए त्रिकाल-स्थायी तो स्तम्भ भी है। यह बात दूसरी है कि लंबे समय तक स्तम्भ एक स्तम्भ के रूप में नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रतिसमय अवस्थाओं (पर्यायों) का परिवर्तन होता रहता है। परन्तु त्रिकालवर्ती जिन जड़ पदार्थों से मिलकर यह स्तम्भ बना है, वे स्थायी हैं। उन्हें दार्शनिक भाषा में परमाणु कहते हैं। यह कथन जैन-दार्शनिक दृष्टि से है। वैज्ञानिकों ने भी परमाणु की परिभाषा की है। इस परिभाषा की शास्त्रीय दृष्टिकोण की परिभाषा और दार्शनिक क्षेत्र की परिभाषा के साथ समानता है। शास्त्रीय दृष्टि से उसको परमाणु (परम+अणु) कहा गया है—जिसके दो हिस्से नहीं हो सकें। बौद्धिक दृष्टि से जिसका विभाग नहीं किया जा सके, ऐसे सूक्ष्मतम अणु को परमाणु कहा है। वैज्ञानिक क्षेत्र में भी भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं ने परमाणु की परिभाषा यही की है कि

जिसके दो हिस्से नहीं किए जा सकें, वह परमाणु है। परन्तु भौतिक विज्ञान की आधारशिला प्रयोगात्मक है। वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मवीक्षण यंत्र) से बारीक तत्त्व को देखा और उसको देख कर उन्होंने अपनी काल्पनिक दृष्टि से निश्चय किया कि जिस बारीक अणु को देख लिया है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते हैं। अतः जिसके टुकड़े नहीं हों, वह परमाणु है। यह व्याख्या तो कर दी परन्तु जिस तत्त्व को देखकर यह व्याख्या की गई, वह तत्त्व जैन-शास्त्र की दृष्टि से अनन्त परमाणुओं का स्कंध हो सकता है। लेकिन उन्होंने उसको ही अपनी व्याख्या के अनुसार परमाणु समझ लिया। बाद में जब उसको भी तोड़ने का प्रयास किया गया तो उन्हें मालूम हुआ कि जिसका हम टुकड़ा होना नहीं मानते थे, उसके भी टुकड़े हो गए—उसके भी इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि विभाग हो गए और फिर इनके भी अनेक टुकड़े और हो गए। इससे यह सिद्ध हो गया कि वह अनन्त परमाणुओं का पिंड था और वैज्ञानिक उसको प्रारम्भ में समझ नहीं पाए थे।

वैज्ञानिक अपने सिद्धांत के अनुसार प्रयोगशाला में जितना निर्णय वर्तमान में करता है, वह निर्णय भविष्य में भी टिका रहेगा या नहीं, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता है और न ही वैज्ञानिक स्वयं उस पर विश्वास करते हैं। उनका कथन भी यही है कि वर्तमान में जिन भौतिक साधनों से जो कुछ भी खोज की और उससे जो उपलब्ध हुआ, उसको ही हम कह रहे हैं। संभव है कि भविष्य में हमारी यह धारणा भी गलत सावित हो जाए। ऐसा हुआ भी है। पूर्व के वैज्ञानिकों ने निश्चयात्मक रूप से जिसका अनुभव किया और जिसे संसार के सामने रखा, बाद के वैज्ञानिकों ने उसमें संशोधन कर दिया। इस प्रकार वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में किये गये अनुसंधान की दृष्टि से जिस तत्त्व का निर्णय किया, वह निर्णय पूर्णतया अबाधित नहीं हुआ।

फिर भी वैज्ञानिक अपने अनुसंधान कार्य में निरंतर लगे रहते हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण भौतिक पदार्थों का अनुसंधान करते हुए भी

ऊब कर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने का है। भौतिक पदार्थों में उन्हें जल्दी सफलता मिली और वे आगे बढ़ गए। उनकी उपलब्धि से दुनिया को आश्चर्य हो गया। परन्तु स्वयं वैज्ञानिक आश्चर्य-चकित नहीं हैं। वे तो अब भी सोच रहे हैं कि ये प्रयोग और आविष्कार हुए तो साधारण जनमानस भले ही इनको हौवा समझ ले परन्तु अभी वैज्ञानिक क्षेत्र की दृष्टि से विज्ञान की बचपन की-सी अवस्था है। वह अभी तरुणाई पर नहीं पहुंचा है। जिस दिन वह तरुणाई की पूर्ण परिपक्वता पर पहुंचेगा, उस दिन दुनिया की वर्तमान दशा में परिवर्तन आकर स्थिरता आ सकती है। वैज्ञानिकों का यह तटस्थ मस्तिष्क है। परन्तु आज के पाठकवृंद, विद्यार्थी और अखबारों को देखने वाले विचारवादी कुछ-कुछ बातों को लेकर उनको ही सर्वस्व समझ लेते हैं। यह बहुत बड़ी भ्रांति की बात है। उनका मस्तिष्क भौतिकवादी बन गया हैं। वे यही चिंतन करते हैं कि इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसके अतिरिक्त कोई आनन्द का स्थान नहीं है। इस प्रकार से मस्तिष्क को एक बात के पीछे बांध देना, भौतिकता से चिपका देना, यह बहुत बड़ी हिंसा की अवस्था है। आज के मानवों को चाहिए कि वे अपने मस्तिष्क को खुला रखें और सोचें कि भौतिक-विज्ञान की उपलब्धि से प्राप्त विज्ञान यदि हमारे मस्तिष्क को बांध देता है तो हम जड़ी-भूत हो जाते हैं और इससे सत् तत्त्व क्या है—इसका पूरा पता नहीं लगा पाते हैं।

सत् क्या है और उसकी खोज कैसे की जाये? इसका संकेत किया जा रहा है। वैज्ञानिक भी इसकी खोज में तत्पर हैं। परन्तु उन्होंने जिसे परमाणु समझा; वह गलत निकला और अब भी वे उसकी खोज में लगे हुए हैं। इधर आध्यात्मिक दृष्टि के वैज्ञानिक हैं। एक दृष्टि से कहा जाए तो सारा विज्ञान, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक हो, परन्तु दोनों की मूल कर्तृत्व अवस्था एक है। जिस शक्ति से भौतिक विज्ञान का आविष्कार हो रहा है, वह शक्ति तो आध्यात्मिक (अर्थात् आत्मा की) ही है। परन्तु अभी उसकी दृष्टि स्थूलता की ओर है, बाह्य

जगत् की ओर है। इसीलिये वह शक्ति भौतिक-विज्ञान कहलाती है। परन्तु वही शक्ति यदि अंतरंग की ओर मुड़ जाये तो आध्यात्मिकता की दशा पा लेती है। जिन आत्माओं ने अपनी शक्ति को अंतरंग की ओर मोड़ा है, उनकी अनेक उपलब्धियां हुई हैं, उन्होंने समग्र जगत् को जाना है। नेत्र आदि पांचों इन्द्रियों के व्यापार को बंद करके जिन्होंने आंतरिक शक्ति के माध्यम से परिपूर्ण तत्त्वों को पहिचाना है, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुए हैं। उन्होंने अपने आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से अनुसंधान करके संसार का जो स्वरूप बतलाया, सत् की जो व्याख्या की, परमाणु की जो व्याख्या की, उसे उन्होंने अपने ज्ञान में देखा है और स्थायी रूप से देखा है। उनका निर्णय है कि जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकें, वह परमाणु है। वह त्रिकाल अबाधित है। परमाणु परिवर्तित होता है, रूपांतरित होता है परन्तु नष्ट नहीं होता है। उसे सत् भी कहा है। वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। परमाणु की ऐसी व्याख्या जब सत् के साथ लागू होती है तो वह सत् तत्त्व अवश्य है परन्तु उसके साथ चित् नहीं। इसलिये जहां सत् तत्त्व होते हुए भी चित् नहीं तो वहां चेतना नहीं, आत्मा नहीं। इसीलिए आध्यात्मिक वैज्ञानिकों ने आत्मा के लिये सत् के साथ चित् विशेषण और दिया और कहा कि सत् के साथ चित् भी होना चाहिये।

चित् का अर्थ चैतन्य है और उसका शुद्ध अर्थ है ज्ञान। ज्ञान उस तत्त्व से अलग नहीं है। ज्ञान उसका गुण है। वह ज्ञानवान सत् है और सत् का ज्ञाता कहलाता है। यदि वह ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, चरम सीमा को पा लेता है तो वह आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। ये आत्मा की तीन अवस्थायें हैं—सत्, चित् और आनन्द। जो इन तीनों अवस्थाओं से परिपूर्ण है, वह परमात्मा है। और जो इनमें से दो अवस्थाओं—सत् और चित् से युक्त है, वह आत्मा है। उसमें भी पूर्णता प्राप्त करने का सामर्थ्य समाया हुआ है परन्तु अभी वह कर्मों से आच्छादित है। उस पर मोह और माया का आवरण लगा हुआ है वह अपने आनन्द को

पाने के लिये छटपटा रही है। वह देखती है कि मेरा प्रिय आनन्द कहां है ? वह इस आनन्द की खोज में जहां भी राह मिलती है, वहीं बढ़ती है । उसको पता लगा कि अमुक वस्तु में आनन्द है तो अपने समस्त जीवन की शक्ति लगाकर वह उस स्थान पर पहुँचने की कोशिश करती है, क्योंकि वह आनन्द की भूखी है । परन्तु वहां पहुँचने पर भी कष्ट मिलता है और आनन्द की उपलब्धि नहीं हो पाती है, तब वह घबरा कर सोचती है कि यहां आनन्द नहीं है, पहाड़ की चोटी पर आनन्द है। लेकिन पहाड़ के इर्द-गिर्द जंगली-जंतु हैं और भयावने दृश्य हैं। वहां पहुँचना शक्य नहीं है । परन्तु उसे यह विश्वास हो जाता है कि पहाड़ की चोटी पर आनन्द की अनुभूति होने वाली है तो वह शरीर की भी परवाह नहीं करती है और पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की कोशिश करती है। वहां पहुँचने पर भी आनन्द का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार समुद्र की गहराइयों में गोते लगाकर अथवा आकाश में उड़ानें भर कर वह आनन्द प्राप्त करना चाहती है, लेकिन उसे वहां पर भी आनन्द नहीं मिलता है ।

यह सब तो मृगतृष्णा के पीछे भटकना है । जैसे ग्रीष्म-ऋतु में मृग को प्यास सताने लगती है, तब वह पानी की खोज में इधर-उधर दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाता है । रेतीले मैदान में सूर्य की किरणों की चमक से उसे प्रतीत होता है कि वहां पानी हिलोरें ले रहा है । अतः वह सारी शक्ति लगा कर पानी पीने के लिए वहां पहुँचता है। लेकिन वह देखता है कि यहां तो पानी नहीं है । क्या मैं भ्रांति में पड़ गया ? वह फिर दृष्टि दौड़ा कर देखता है तो ज्ञात होता है कि पानी तो पीछे रह गया है। वह फिर उसी तरफ दौड़ कर जाता है। लेकिन वहां पर भी वास्तविक पानी नहीं होने से उसकी सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर जाता है । सूर्य की किरणों से रेतीले मैदानों में पानी जैसा दृश्य दिखलाई देता है, उसको मृगतृष्णा की संज्ञा दी गई है ।

भ्रांतिवश जैसे मृग पानी की खोज में दौड़ता-दौड़ता अपने

आपको समाप्त कर देता है, वैसी ही दशा आज के अधिकांश मानवों की हो रही है। मनुष्य ज्ञान से युक्त है परन्तु उसका प्रयोग वह पांचों इन्द्रियों के विषय-सुख की प्राप्ति के लिये कर रहा है, जिनमें वास्तविक आनन्द नहीं है, सिर्फ लुभावने दृश्य दिखलाई देते हैं।

भौतिक पदार्थों के पीछे मनुष्य भटक रहा है और मानता है कि उनको प्राप्त करने के लिए चाहे जो साधन अपनाना पड़े, भले ही खून-पसीना एक हो जाए, परन्तु कोई परवाह नहीं। उसे तो चाहिए चंद चांदी के टुकड़े। वह सोचता है—इनको जितना इकट्ठा कर लूंगा, उतना ही आनन्द मिलेगा। वह ऐसा कभी नहीं सोचता है कि जिन्होंने काफी धन इकट्ठा कर लिया है, क्या उनको आनन्द मिल गया ?

आज भारतवासियों की दृष्टि भी पाश्चात्य जगत् की तरफ लगी हुई है। वे सोचते हैं कि अमेरिका वाले आनन्द में होंगे क्योंकि उनके पास बहुत पैसा है। परन्तु पूछिए उनसे कि आप कितने आनन्द में हैं ? सुख-शांति में तो हैं ? बड़ी हवेलियों में रहने वालों से भी पूछिए कि आपको सुख है या दुःख ? वे अपनी सारी शक्ति लगा करके मृगतृष्णा की तरफ भाग रहे हैं। वे नहीं सोचते हैं कि यह जीवन क्यों है और क्या है ? यद्यपि इन पदार्थों का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता है, परन्तु इनसे ही आनन्द मान लेना और इनसे ही चिपक जाना, यह अज्ञान की दशा है। इसीसे आत्मा के आनन्द की शक्ति दब रही है और उसका ह्रास हो रहा है। आज के मानव को सोचना चाहिये कि मैं पूरी शक्ति लगा कर इन पदार्थों को बटोर तो रहा हूं परन्तु इनके साथ मेरा संबन्ध नहीं है। ये स्थायी नहीं हैं। दुनिया चाहे जिधर भी दौड़ रही हो, परन्तु क्या हम भी उधर ही भागते जायें ? दुनिया में जिधर भी जाइए, उधर यही रट लग रही है हाय पैसा ! हाय पैसा ! हाय धन ! यदि धन मिल भी गया तो वह कितने दिन तक टिकेगा ? उससे आनन्द की कितनी अनुभूति होगी ? इसका चिंतन करना चाहिए और यदि चिंतन किया गया तो अनैतिकता की ओर

जीवन को नहीं ले जाते हुए सोचेंगे कि यह तो साधन है—साध्य नहीं है। साधन को सीमित रखना चाहिए। पेट को पूर्ति तो हर कोई कर सकता है। मनुष्य ही करता है, केवल यही बात नहीं है। मनुष्य करता है तो इसमें क्या विशेष बात है ? पक्षी के पास तो केवल एक चोंच होती है परन्तु वह भी भूखा नहीं रहता है और परिवार का पोषण भी करता है। पशु भी अपना कार्य करते हैं। परन्तु मानव के पास तो दो हाथ, दो पैर और विकसित मस्तिष्क है। क्या वह भूखा रह सकेगा ?

अरे, भूख पेट की नहीं, परन्तु पेटी की है। उसके लिये इन्सान अपनी शक्ति को कहां लगा रहा है और कहां-कहां भागता फिर रहा है ? यह पेटी की तृष्णा जल्दी से पूरी नहीं होती है। मनुष्य इसमें आनन्द का अनुभव करना चाहता है, इसलिए वह नैतिकता और अनैतिकता कुछ नहीं देखता है। जैसे कोई व्यक्ति सोचता है कि ईमानदारी से व्यापार करूंगा तो थोड़े से पैसे पैदा होंगे। अतः इसमें चालाकी की जाए ताकि पैसे ज्यादा मिल सकें। और वह वस्तु में मिलावट करना चालू कर देता है। ग्राहक की आंखों में धूल डालने के लिए असली घी में डालडा या अमुक जाति का तेल डालने की कोशिश करता है। इस मिलावट की दृष्टि से व्यापारी अपनी आत्मा को कितनी मैली कर रहा है ? वह सोच भी नहीं पा रहा है कि उसका जीवन मानवीय धरातल पर है या अमानवीय धरातल पर है ? वह जीवन राक्षस का है या मनुष्य का है ? यदि आप इसे गहराई से सोचेंगे तो प्रकट होगा कि जो व्यक्ति मिलावट करता है, वह अत्यन्त क्रूर और निर्दयी बन रहा है। कोई पैसे का गुलाम बनता है, तभी वस्तु में मिलावट करता है। इससे मानव को कितना नुकसान होता है, इसका चिंतन नहीं करता है। जिसके साथ जिस पदार्थ का मेल नहीं है, यदि वह उसमें मिला दिया जाता है तो इस संयोग से जो पदार्थ बनता है, वह जहरीला बन जाता है। इस अनुचित संयोग से न मालूम मानव के जीवन को कितनी क्षति पहुंच रही है ? इसका उसको ध्यान नहीं है। इस तरह से जो वस्तुओं में मिलावट

करता है, वह चाहे किसी प्रलोभन में आकर ऐसा करता हो परन्तु मैं अनुमान से चिंतन करता हूं कि ऐसा करके वह मनुष्यों के लिए जहरीला काम करता है ऐसा व्यापारी या कोई व्यक्ति क्या वस्तुतः देश का ईमानदार और वफादार नागरिक है ? ऐसे आदमी क्या आत्मा की खोज कर पायेंगे ? ऐसे व्यक्तियों के लिए क्या कुछ कहा जाए !

मैं सुनता हूं कि जितनी ऊंचे दर्जे की दवाइयां भारत में बनती हैं, उनमें भी बेईमानी चलती है। आज नकली दवाएं बनने लगी हैं। अरे ! रोगी रोग से त्राण पाने के लिए दवा खरीदता है किन्तु निर्माता उन औषधियों को भी शुद्ध नहीं रहने देते हैं। मैंने यह भी सुना है कि क्लोरोमाइसिन की गोलियां आदि को खोल कर दूकानदार बदल लेते हैं औरउनमें कुछ दूसरे तत्त्व डाल कर वे गोलियां दे दी जाती हैं, जिससे रोगी का जीवन खतरे में पड़ जाता है, और कोई असर नहीं होता है। एक दृष्टि से देखा जाये तो रोगी और दवा में मिलावट करने वाले आपस में एक दूसरे के भाई हैं। यह व्यापारी का दोष है, व्यापार का नहीं। जब व्यापारी इस प्रकार की मिलावट और काला बाजार करते हैं तो अन्य नौकरी वाले भी उनसे पीछे नहीं हैं। वे भी दूसरे व्यापारी बनने की तैयारी कर रहे हैं। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति इन्सान-इन्सान के बीच चले तो क्या वे मनुष्य हैं ? मैं तो कहूंगा कि वे मनुष्य से भी गए बीते हैं। वे पशु से भी बदतर हैं। पशु कम से कम ऐसा तो नहीं करता है। बंधुओ ! वे मानवता के विरुद्ध कार्य करते हैं और अपनी आत्मा का पतन करने वाले हैं। और इसलिए ही कहना पड़ रहा है कि आज मनुष्य की दशा कितनी विषम है ? यही समाज की विषमता है।

मैं सुनता हूं कि विदेशों में ऐसी प्रवृत्ति कम है। जो अपने देशवासी वहां जाकर आते हैं, वे वहां की ईमानदारी की तारीफ करते हुए कहते हैं कि क्या कहना है वहां की ईमानदारी का ! वहां दूकानें खुली हैं, लाखों का माल भरा पड़ा है। दूकान का स्वामी नहीं है,

ग्राहक आता है और बिना रोक-टोक दूकान में प्रवेश करता है। उसे जो चीज चाहिए वह ले लेता है और ईमानदारी से वहां पैसे डाल कर चला जाता है। दूकान का मालिक आता है, माल को देखता है और पूरे पैसे प्राप्त कर लेता है। कहिए, क्या यह ईमानदारी यहां के नागरिकों में है ?

भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन आया है कि वे कैसे थे ? बताया गया है कि उनके घर के द्वार सदा खुले रहते थे, अर्गलायें खुली रहती थीं। इसका तात्पर्य यह है कि वे कभी भी अपने मकान का दरवाजा बंद नहीं करते थे। इसमें कई रहस्य भरे हुए हैं। परन्तु आज वह वर्णन शास्त्रों में ही रह गया है। आज के श्रावकों की क्या दशा है ? आज के मनुष्यों की क्या अवस्था है ? क्या इसका चिंतन आज का मनुष्य कर पाएगा ?

मैं तो आध्यात्मिक बात रख रहा हूं, आत्मा और परमात्मा की बात कह रहा हूं। आप इस पर चिंतन करें और अपने जीवन में उतारें। तभी आप सत्-चित्-आनंदघन रूप आत्मा को समझ सकेंगे, उसे पा सकेंगे।



बीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण कृष्णा ३०

स्वतंत्रता का मूलाधार

धार तलवारनी सोहली, दोहली चोदमा जिन तणी चरणसेवा ।

अनन्तनाथ परमात्मा चरम वीतराग अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं । उन्होंने जिस मार्ग का निर्देश किया, वह मार्ग इस संसार में श्रेयस्कर है । उस मार्ग को अपनाये बिना भव्य प्राणियों का कल्याण होने वाला नहीं है ।

वीतराग देव की स्तुति, परमात्मा की प्रार्थना कुछ मांगने की दृष्टि से नहीं की जाती है । परन्तु प्रार्थना इस दृष्टि से उच्चारण की जाती है कि जीवन की परम पवित्र शुद्धि का प्रसंग बने और आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य सही तरीके से सध सके । यदि वे महापुरुष अपनी दिव्य साधना का फल जन-कल्याणार्थ वितरित नहीं करते तो आज की विचित्र दशा में मानव की कैसी दुर्दशा होती, इसका वर्णन करना शक्य नहीं है । उन्होंने आत्म-कल्याण तो प्राप्त किया ही परन्तु साथ ही भव्य जीवों के लिए भी जो पवित्र देशना प्रसारित की, उसका निष्कर्ष आज तक चला आ रहा है । ऐसे पवित्र पुरुषों का स्मरण उनके सिद्धांत वाक्यों के कथन के पूर्व होना नितान्त आवश्यक है । इस दृष्टि से भी भव्यात्माओं को सबसे पहले परमात्मा की प्रार्थना मंगलाचरण के रूप में करनी ही चाहिये । परन्तु प्रार्थना के शब्दों तक ही हम सीमित नहीं रहें, उनके अन्दर रहने वाले मर्म का अनुसंधान भी अवश्य करें । वह अनुसंधान आत्म-शक्ति के साथ संबद्ध हो । अनुसंधान सिर्फ दिखाने के लिए नहीं परन्तु जीवन की शोध के लिये हो। जीवन का परिमार्जन करने की भावना से जिनका अनुसंधान निरन्तर

चलता रहता है, वे आत्मायें ही इस संसार में अपने जीवन को सुव्यवस्थित रख सकती हैं ।

वीतरागदेव ने जिस पवित्र आध्यात्मिक-मार्ग का निर्देश किया, वह मार्ग आत्मा की परम सुख-शांति के लिये ही है । यद्यपि मुख्य लक्ष्य सभी का एक है परन्तु उस लक्ष्य को रख कर चलने वाले सब प्राणी एक ही धरातल पर नहीं चल सकते हैं। उनका मार्ग शक्ति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में भिन्न हो सकता है । जहां साधु-साध्वियों के लिए निर्देश है कि वे अपने परिपूर्ण महाव्रतों का पालन करें और उनकी सुरक्षा करना उनके लिये नितान्त आवश्यक है, वहां श्रावक और श्राविकाओं के लिए भी उनकी मर्यादा के साथ जिस मार्ग का निर्देश है, उस मार्ग पर वे चलें । दोनों की सीमा अपनी-अपनी है परन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य समान है । दोनों का उद्देश्य एक है । साधना की श्रेणियों में भिन्नता है । वे छोटी और बड़ी हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं कि दोनों का लक्ष्य भिन्न हो गया। साधु और साध्वी शीघ्रगति से चलने वाले हैं, जबकि श्रावक और श्राविकाएं कुछ मंथर गति से उसी आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होने वाले हैं। मुख्य लक्ष्य जब दोनों का एक बन जाता है तो वे जिस धरातल पर रहते हैं, उसका भी यथास्थान उनको ज्ञान होना चाहिए । जिस भू-मंडल पर संयमी जीवन की आराधना संभावित है, उस भू-मंडल संबन्धी वातावरण भी उसके अनुरूप रहना नितान्त आवश्यक है । यही कारण है कि भगवान महावीर ने आध्यात्मिक जीवन का मुख्य रूप से निर्देश करते हुए प्रसंगोपात्त दस धर्मों का भी निर्देश किया है ।

श्रीमद् ठाणांग-सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार के धर्मों का संकेत है। उसमें ग्राम–धर्म, नगर–धर्म, राष्ट्र–धर्म आदि गिनाते हुए श्रुत-धर्म और चारित्र–धर्म को अंत में रखा है । इसका तात्पर्य यह है कि श्रुत और चारित्र धर्म जिसका मुख्य लक्ष्य है, ऐसा आध्यात्मिक साधक संयम की आराधना की दृष्टि से जिस ग्राम में विचरण कर रहा है, उसमें यदि ग्राम–धर्म की सुव्यवस्था नहीं है अर्थात् वहां अराजकता का

प्रसंग है, वायुमंडल दूषित है तो उस गांव के अन्दर मुनि अपने श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना कैसे कर सकता है ? वैसे ही नगर-धर्म के लिये संकेत है। जिस नगर में नैतिकता की दृष्टि से सुव्यवस्था नहीं है, जहां सब लोग स्वच्छंद और उद्दण्ड हैं, एक-दूसरे को सताने वाले हैं तो ऐसे नगर के बीच वह साधक श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना नहीं कर सकता है। चाहे साधक कैसा भी क्यों न हो, परन्तु अभी आध्यात्मिक शक्ति का माध्यम शरीर है। अतः शरीर का जहां निर्वाह करना है, उस स्थान का वायुमंडल भी तो शुद्ध होना चाहिये। यदि नगर सुव्यवस्थित है अर्थात् नैतिक धरातल के साथ है, नगर के रहने वालों में एक-दूसरे का सहयोग है, सहानुभूति है, मानवीय धरातल पर शांति है तो उस नगर में आध्यात्मिक जीवन का साधक अपनी पवित्र साधना करते हुए अपने चरम लक्ष्य को भलीभांति प्राप्त कर सकता है। साधक वहां जो लक्ष्य साधता है, वह सिर्फ उसके लिए ही नहीं होता परन्तु जन-समुदाय के लिये भी वह शुद्ध और आदर्श वायुमण्डल तैयार करने वाला बनता है।

ग्राम-धर्म और नगर-धर्म की सुव्यवस्था के वर्णन की तरह ही राष्ट्र-धर्म के विषय में भी समझना चाहिये। जिस राष्ट्र में व्यवस्थित मानवीय धरातल है, आत्मीय शक्तियों के विकास का सुन्दर अवसर है, जिसमें हरएक साधक अपनी साधना को साधने में तत्पर रह सकता है, वहीं श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की आराधना हो सकती है। यदि राष्ट्र में अराजकता है, विप्लव की स्थिति है, राक्षसी-वृत्तियों का दौर-दौरा है तो वहां आध्यात्मिक साधक का भी टिकाव नहीं हो सकता है।

इस प्रकार दस धर्मों के वर्णन से वीतराग देव ने मुख्य तौर पर आध्यात्मिक जीवन का संकेत देते हुए नैतिक जीवन का परिमार्जन करने के लिए ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का संकेत किया है। यह संकेत एक वैज्ञानिक तथ्य को लिए हुए है।

मानव सिर्फ विचारों की ऊंची-ऊंची उड़ानें भरे, अध्यात्म की

सिर्फ बातें करें तो व्यावहारिक धरातल पर सामाजिक जीवन के साथ आध्यात्मिक रस कैसे आ सकता है ? इस विषय का संकेत यदि नहीं दिया जाता है तो वह अपने जीवन की पूर्ण साधना में तन्मय नहीं हो सकता । साधु संकेत अवश्य दे सकता है, परन्तु अपनी सीमा में आवद्ध होकर, अपने गृहीत महाव्रतों को सुरक्षित रखता हुआ, साधु-मर्यादा के अनुरूप ही वह इस राष्ट्रीय-धर्म का संकेत कर सकता है। इस प्रकार वह राष्ट्र में रहने वाले जन-समुदाय का भव्य कल्याण अपनी वाणी के माध्यम से साध सकता है ।

वीतराग वाणी के इस विषय के अंतर्भूत ही राष्ट्र-धर्म का प्रसंग आ जाता है । इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक साधक जिस स्थान पर रहता है, जिस देश में रहता है, उस देश के वायुमण्डल में यदि दूषण है तो उसका प्रभाव आध्यात्मिक जीवन पर भी आ सकता है । और आध्यात्मिक जीवन का साधक यदि वायुमण्डल को शुद्ध करने में तत्पर है तो उसके आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव व्यक्ति के साथ ही परिवार, समाज और राष्ट्र के वायुमण्डल को भी शुद्ध करने वाला बनता है ।

आज १५ अगस्त है । भारत का स्वतन्त्रता-दिवस है । इसका प्रसंग भारतवासियों के लिए उल्लास का विषय है । परन्तु जिस वक्त भारतीयों को स्वतंत्रता मिली, उस समय में और आज के समय में अंतर आ चुका है। उस समय के उल्लास तथा उस समय की भावनाओं में और आज के उल्लास तथा आज की भावनाओं में बड़ा भारी अंतर दृष्टि-गत हो रहा है । यह स्वाभाविक भी है । इन्सान जिस वस्तु को ले करके चलता है, उसका यदि उसे आद्योपांत ज्ञान नहीं है, पूर्वापर विज्ञान नहीं है कि उस वस्तु का मूल स्वरूप कहां है, जिसका संरक्षण करने पर ही शाखा-प्रशाखायें बनती हैं और विना विज्ञान ही यदि वह सहसा उसके उल्लास में प्रफुल्लित होता है तो उल्लास स्थायी नहीं रह सकता है। आगे चल कर यह उल्लास ठंडा पड़ जाता है, परिवर्तित हो जाता है ।

एक दृष्टि से चिंतन किया जाए तो भारतीयों की लगभग यही

स्थिति है। उन्होंने यत्किंचित् उपलब्धि १५ अगस्त १९४७ को की थी। उस प्रसंग पर वे फूले नहीं समाये थे। परन्तु स्वतन्त्रता का स्वरूप क्या है, स्वतन्त्रता-दिवस किस तरह से मनाया जाता है, इसका पूर्वापर सम्बन्ध क्या है और स्वतंत्रता की जड़ें किस स्थान पर जमी हुई हैं, इन जड़ों को संभाला या नहीं, अथवा सिर्फ परिपक्व फल को देख कर ही उल्लसित हो गये आदि-आदि विषयों का यदि दीर्घदृष्टि सहित ज्ञान होता तो भावना में जो कुछ परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा है, वह नहीं होता।

बंधुओ! उन्होंने अपनी दृष्टि से जो कुछ भी सोचा हो, परन्तु वस्तुस्वरूप की दृष्टि से स्वतन्त्रता क्या है—इस विषय को पहिले तात्त्विक दृष्टि से समझ लेना चाहिये। जहां राष्ट्रीय स्वतंत्रता का राष्ट्र-धर्म की दृष्टि से चिंतन होता है तो वहीं पर वस्तुतः राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। स्व का अर्थ है—आप (स्वयं)। तंत्र का अर्थ नियंत्रण और सिद्धांत भी लिया जाता है। अतः जिसमें अपने आप पर नियंत्रण हो, वह स्वतंत्रता है। जहां राष्ट्र-धर्म का प्रसंग है, उस राष्ट्र-धर्म में राष्ट्र की स्वतंत्रता आती है। उसका अर्थ यह होता है कि राष्ट्र के अंदर रहने वाले प्रबुद्ध व्यक्तियों के हाथ में राष्ट्र का नियंत्रण हो, तभी वहां राष्ट्र-धर्म रहता है और सुव्यवस्था का रूप बन सकता है।

प्रबुद्ध व्यक्ति का मतलब है वह व्यक्ति, जिसने राष्ट्र-धर्म से युक्त राष्ट्रीय-संस्कृति पाई हो। कौन-से राष्ट्र की कौन-सी संस्कृति उसके गौरव को बढ़ाने वाली है, किस राष्ट्र में कौन-सी संस्कृति काम करती है, पड़ौसी राष्ट्र कौन-सी संस्कृति के हैं, उनके जीवन का धरातल क्या है, राष्ट्र का धरातल क्या है, इस प्रकार का तुलनात्मक विज्ञान प्रबुद्ध व्यक्ति को होना जरूरी है। उस राष्ट्रीय धरातल पर जिन मानवों का निवास है, उन मानवों के अन्दर जो चेतना है, उस अंतश्चेतना के स्वरूप, आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप को जान कर व्यक्ति प्रबुद्ध हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि जिस शरीर-पिण्ड को लेकर हम चल रहे हैं, उसके दो भाग हैं—एक भौतिकता-प्रधान और दूसरा आध्यात्मिकता-

प्रधान। भौतिकता-प्रधान और आध्यात्मिकता-प्रधान जीवन का ज्ञान भी उस प्रबुद्ध मानव को रहना चाहिये। वैसे ही राष्ट्रीय-संस्कृति के दोनों अंग एक आंतरिक संस्कृति और एक बाह्य संस्कृति का विज्ञान भी इन प्रबुद्धों को होना चाहिये। नैतिकता और अनैतिकता तथा मानवीय बुद्धि और दानवी अवस्था किन-किन लक्षणों से पल्लवित होती है, इस विषय का ज्ञान भी आवश्यक है। इसी तरह पड़ौसी देशों में यह विज्ञान है या नहीं, इस प्रकार की तुलनात्मक विज्ञान अवस्थाओं का ज्ञान भी इन प्रबुद्धों को होना चाहिए। जो व्यक्ति इन सब विज्ञानों के साथ हो, वही प्रबुद्ध की संज्ञा पा सकता है। जो इन सब विज्ञानों के साथ अपने जीवन के धरातल को मांज सके और जैसे विचार उसके मस्तिष्क में हैं, उनका यथासाध्य प्रतिपादन करता हुआ उनको यथाशक्ति अपने जीवन में, आचरण में लाते हुए चले, उसको ही प्रबुद्ध की संज्ञा दी जा सकती है। जो राष्ट्रीय धरातल पर रहने वाले प्रबुद्ध हैं, उनको अपने राष्ट्र की नियन्त्रण-शक्ति प्राप्त हो और उस नियन्त्रण के साथ यदि राष्ट्र है तो वह राष्ट्र स्वतंत्रता की स्थिति में कहला सकता है। इसी को राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता की संज्ञा दी जा सकती है।

इस प्रकार के विज्ञान वाले प्रबुद्ध यदि अपने हाथ में राष्ट्रीय स्थिति को लेकर चलते हैं तो वे राष्ट्रीय स्तर पर जो कुछ भी व्यवस्था करनी है, उस व्यवस्था में जागरूक रहते हुए स्वतंत्रता का लाभ प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार का प्रबुद्ध-वर्ग समाज के बीच में से ही आता है। समाजों का समूह ही राष्ट्र है। इसलिये सामाजिक स्वतंत्रता का होना भी आवश्यक है। सामाजिक स्वतंत्रता की दृष्टि से समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों के हाथ में समाज का तंत्र हो। सामाजिक स्वतंत्रता जिनके हाथ में है, ऐसे व्यक्ति ही आगे स्वतंत्रता को साध सकते हैं। परन्तु समाज का रूप परिवार में रहा हुआ है। इसलिये पारिवारिक स्वतंत्रता भी अपेक्षित है। जिस प्रबुद्ध का जीवन जिस परिवार में

हो, वह उस परिवार की भव्य स्वतंत्रता को रख सके, परिवार का नियंत्रण आत्मीय भावना से कर सकें, वही परिवार समाज को सामाजिक शक्ति से पुष्ट बना सकता है ।

परन्तु परिवार की जड़ें भी तो व्यक्ति में रही हुई हैं । परिवार में व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है । व्यक्ति-स्वतंत्रता का मतलव 'स्व' का नियंत्रण है । जो व्यक्ति अपने ऊपर नियंत्रण रख कर चलता है, अपना जीवन अपने नियंत्रण में रखता है, अपनी तमाम प्रक्रियाओं को व्यवस्थित रखता है, वही व्यक्ति अपनी व्यक्ति-स्वतंत्रता की स्थिति को लेकर चलता है । व्यक्ति में यह स्थिति तभी पनप सकती है, जबकि वह आध्यात्मिक लक्ष्य से परिपूर्ण हो और उसका जीवन आध्यात्मिक सिद्धांत के अनुरूप हो ।

आध्यात्मिक-मार्ग तलवार की धार से भी तीक्ष्ण है । मानसिक वृत्तियों में जो विकारों का प्रवेश है, जिनके कारण व्यक्ति विषमता और विकारों का शिकार वनता है, उन वृत्तियों के ऊपर जिस व्यक्ति का नियंत्रण है, वही व्यक्ति अपना स्वतंत्र नियंत्रण लेकर चलता है । ऐसे व्यक्ति की आध्यात्मिकता से परिवार में नियंत्रण आता है और पारिवारिक स्वतंत्रता आती है । परिवार में स्वतंत्रता को पोसने वाला व्यक्ति सामाजिक स्वतंत्रता को पनपा सकता है और वही राष्ट्रीय स्वतंत्रता का सिरमौर बन सकता है ।

स्व (अपना) तंत्र (शासन) यह स्वतंत्रता शव्द की व्याख्या हुई । स्वतंत्रता के अंतरपेटे में (अन्तर्भूत) आर्थिक स्वतंत्रता समाई हुई है । और जीवन की स्वतंत्रता भी रही हुई है । परन्तु मुख्य तौर पर यदि तंत्र की व्यवस्था ठीक है, नियंत्रण व्यवस्था भलीभांति है तो वहां स्वतंत्रता का उपयोग सही तरीके से हो सकता है ।

आज जिस स्वतंत्रता की व्याख्या अपने चिंतन का विषय वन रही है, उसको आप अपने वौद्धिक धरातल पर ठीक तरह से व्यवस्थित करें । संभव है कि आप स्वतंत्रता की लंवी व्याख्या में नहीं गए हों ।

आप स्वतंत्रता का सिर्फ इतना ही अर्थ समझते हों कि अंग्रेजों के हाथ में भारत का नियंत्रण था और अंग्रेज 'पर' थे इसलिए भारत परतंत्र था। और अब भारतीयों के हाथ में भारत का नियंत्रण आ गया है, इसलिये भारत स्वतंत्र हो गया है। इस अर्थ तक यदि भारतीय सीमित हैं और इसी को महत्त्व देकर के आज की दशा को देखना चाहते हैं तो यह बहुत ही चिंतनीय स्थिति है। स्वतंत्रता का अर्थ इतना ही नहीं है। यह अर्थ तो बिल्कुल ही सीमित है और ऐसा कहा जा सकता है कि केवल एक पत्ता ले लिया है और सारा का सारा वृक्ष तो छिपा हुआ ही है। जब तक जड़-मूल सहित इस वृक्ष का ज्ञान नहीं होगा तब तक पत्ते की स्वतंत्रता के ज्ञान को ही स्वतंत्रता समझ कर चलते रहेंगे। न तो यह मानव के साथ इन्साफ है और न ही राष्ट्र के साथ न्याय है।

इस स्वतंत्रता-दिवस के प्रसंग को लेकर कई व्यक्ति भारतीयों की उपलब्धि पर आलोचना और प्रत्यालोचना में उतरते हैं। जिन व्यक्तियों के हाथ में तंत्र है, वे उनकी सिर्फ बुराइयों को ही प्रकट करते हैं। वे उनकी अच्छाइयों को छिपाने की कोशिश करते हैं। साथ ही उसका प्रतिपादन इस ढंग से करते हैं कि हम राष्ट्र की वास्तविक स्वतंत्रता को बतलाना चाह रहे हैं। परन्तु जिसके मन में राष्ट्र की स्वतंत्रता का सच्चा प्रेम है, वह तो तटस्थ दृष्टि से ही आलोचक बनेगा। आलोचना कोई बुराई नहीं है, परन्तु वह स्वस्थ होनी चाहिये। जहां स्वस्थ आलोचना होती है, वहां गुण और अवगुण दोनों का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेपण होता है। राष्ट्र के व्यक्तियों ने राष्ट्रीय धरातल पर यत्किंचित् दृष्टिकोण और जो बातें रखीं, उनमें जो कमी रह गई है, उसका निर्देश किया जाए, परन्तु यह सब तटस्थ भावना से किया जाय ताकि वह हर व्यक्ति के ऊपर असर करने वाला हो। एकांगी आलोचना अथवा एकांत वस्तु को लेकर चलने वाला इन्सान न तो अपने तंत्र को और न अपने राष्ट्रीय तंत्र को ही सुरक्षित रख पाता है। उसमें राष्ट्रीय तंत्र के विपरीत तत्त्व आ सकते हैं।

जो कुछ भी उपलब्धियां भारत को हुई हैं, वे सब आप लोगों से संबंधित हैं और आप ही अपनी सीमा में उनका चिंतन करें। मैं तो सिर्फ वस्तु-स्वरूप का निर्देश कर रहा हूं। इन उपलब्धियों के साथ यदि तटस्थ दृष्टि से चिंतन चलता है तो यह वस्तुस्थिति अवश्य सामने आती है कि स्वतंत्रता का जो मधुर फल जनता को मिलना चाहिये, वह अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह परिपक्व रूप में भी प्राप्त नहीं हुआ है। यदि वह परिपक्व रूप में प्राप्त होता तो भारतीय जीवन की वर्तमान दशा ऐसी नहीं रहती। आज जो कुछ खींचातानी चल रही है, गुटबंदी चल रही है, स्वार्थ का अंधड़ चल रहा है, ये सब स्वतंत्रता के अनुरूप नहीं हैं परन्तु परतंत्रता की जंजीरें हैं। यह स्थिति चाहे व्यक्ति में हो, चाहे परिवार में हो, समाज में हो अथवा राष्ट्र में हो, उज्ज्वल भविष्य की द्योतक नहीं है। यह तो अंधकार की सूचना दे रही है। भारतीयों को इस अंधकार से सावधान रहना है और स्वतंत्रता के वास्तविक तथ्य को समझना है। जिस दिन भारतीय इस वास्तविक तथ्य को समझेंगे, उसी दिन उनके साथ शुभ स्वतंत्रता का संबंध जुड़ेगा।

बंधुओ ! मैं कभी-कभी चिंतन की दृष्टि से एक आम्र-वृक्ष की उपमा दे दिया करता हूं। आम्र-वृक्ष का बीज जमीन में बोया जाता है। जब वह अंकुरित होता है तो उस समय उसकी सुरक्षा की आवश्यकता रहती है। परन्तु वही अंकुर जब पेड़ का रूप धारण कर बड़ी बड़ी शाखा-प्रशाखाओं से सम्पन्न हो जाता है तो उस वक्त उसकी सुरक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी लोकोक्ति प्रचलित है कि बारह वर्षों में तो आम्र-वृक्ष के मधुर फल आ ही जाते हैं। परन्तु वे तभी आते हैं, जबकि उस आम के वृक्ष की जड़ों की सिंचाई होती है, उनकी सुरक्षा होती है, उनमें खाद दी जाती है। जड़ें यद्यपि छिपी रहती हैं, परन्तु वस्तुतः आम्र-वृक्ष के मधुर फल उन जड़ों में से ही निकलते हैं। जिस प्रकार मधुर आम्र-फल के लिए आम्र-वृक्ष की जड़ें सहायक हैं, वैसे

ही राष्ट्रीय सुफल के लिए, राष्ट्रीय मानवों को स्वतंत्रता का मधुर फल चखाने के लिए छिपी रहने वाली आध्यात्मिक जड़ें आवश्यक हैं।

राष्ट्र के सुफल की जड़ें व्यक्ति में रही हुई हैं और व्यक्ति के भौतिक पिण्ड में नहीं परंतु इसकी सद्वृत्तियों में रही हुई हैं। इनसे ही स्वतंत्रता के सच्चे स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

यदि आपको राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के वास्तविक सुमधुर फल चाहिए तो विदेशियों से यत्किंचित् छूट कर और नियन्त्रण शक्ति को पाकर आप फूलें नहीं। आप यह सोचें कि हमको जो चीज प्राप्त हुई है, इसको हम आगे से आगे बढ़ाते हुए व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व इन पांचों अंगों को पुष्ट करते हुए चलेंगे, तब तो हम उसके मधुर फल चखेंगे और यदि इस प्रकार नहीं चले तो हमारे हाथ में कच्चे फल भी आ सकते हैं। और आज वही देख रहे हैं।

एक दृष्टि से देखा जाए और तटस्थ दृष्टि से चिंतन किया जाए तो आज राष्ट्र की विचित्र दशा देखने को मिलती है। इसके पीछे अनुसंधान की कमी है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पीछे प्रबुद्ध व्यक्तियों की कमी है। प्रबुद्ध व्यक्तियों का जब तक निर्माण नहीं होता, तब तक सर्वांगीण दृष्टि से सोच नहीं पाते और इस प्रकार सोचने के अभाव में वास्तविक जीवन के अभाव की स्थिति बनी रहती है। उसके अभाव में सब प्रकार से अभाव का प्रदर्शन होता है।

आज राष्ट्रीय धरातल पर विषमता का जो नग्न नृत्य हो रहा है, सामाजिक व्यवहार की जो दुर्दशा हो रही है, परिवार के लोगों में जो विडम्बना की स्थिति बन रही है, इन सब कारणों से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि जिस १५ अगस्त को स्वतन्त्रता मिली, उसे बीते हुए आज छब्बीसवां वर्ष चल रहा है, तो क्या छब्बीस वर्षों में भी आम्र-वृक्ष फल न दे, मधुर फल न दें? प्राचीन तथाकथित संकेत में तो बारह वर्ष ही चाहिए। बारह वर्षों में फल देने वाले आम्र-वृक्ष को यदि कलम किया जाय तो वह और भी कम वर्षों में मधुर फल दे

सकता है। भारतीयों को विदेशियों के हाथ से इस वैज्ञानिक युग में स्वतन्त्रता मिली है। यदि वे सही दृष्टिकोण से, वैज्ञानिक दृष्टि से चलते तो छब्बीस वर्ष जिस स्वतंत्रता को हो जायें, फिर भी राष्ट्र की दशा लगभग वही देखने को मिले, जो पूर्व में थी तो क्या यह चिंतनीय स्थिति नहीं है ?

१५ अगस्त का दिन आया और कुछ झण्डे फहरा दिए गए। राष्ट्रीय ध्वज के साथ अपने कुछ रीति-रिवाज अदा कर दिए गए। दो-चार नारे लगा दिए और भाषण हो गए। इससे ही सन्तुष्टि कर ली जाती है कि हमने स्वतंत्रता-दिवस मना लिया। परन्तु इस तरीके से स्वतंत्रता-दिवस नहीं बनता है और न ही मनाया जा सकता है। इसमें तो आत्मावलोकन करना आवश्यक है। आज हर व्यक्ति को अपने मानस में भारतीय जीवन की जर्जरित दशा का चिंतन करना चाहिये। आजकल नारे खूब लगाये जाते हैं। जितने दल हैं, उन सबके बड़े लुभावने नारे हैं। वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से अपना चिंतन करते हैं। परन्तु वे अंदर का अवलोकन नहीं करते कि वस्तुतः हम राष्ट्रीय चरित्र के साथ चल रहे हैं या राष्ट्रीय चरित्र का हनन करते हुए चल रहे हैं। हम जैसे नारे लगा रहे हैं, उनके अनुरूप ही हमारा जीवन है भी या नहीं ? यदि उनके मन में वस्तुतः भारत के कल्याण की भावना है, वास्तविक राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना है तो वे भारत के साथ खिलवाड़ कभी नहीं करेंगे।

आज अनैतिकता का जो तांडव-नृत्य दृष्टिगत हो रहा है, वह किसी वर्ग-विशेष में ही नहीं है। कहा जाता है कि अमुक वर्ग में अनैतिकता व्याप्त हो गई है, परन्तु आप तटस्थ दृष्टि से चिंतन करेंगे तो किसी एक वर्ग में ही नहीं, दूसरे-दूसरे वर्गों में भी यह होड़ चल रही है। चाहे किसी नाम से कोई संस्था हो या पार्टी हो, कहीं कम और कहीं ज्यादा, परन्तु प्रायः कोई वर्ग इस तत्त्व (अनैतिकता) से अछूता नहीं है। अतः आज किसको राष्ट्रीय चरित्र से हीन कहा जाए और किसको राष्ट्रीय चरित्र-संपन्न कहा जाए, समाज के सामने यह एक टेढ़ा प्रश्न

प्रति वफादार हैं ? क्या वे राष्ट्र को अपना समझते हैं ? मैं समझता हूं कि उनमें राष्ट्रीय-चरित्र की बहुत बड़ी कमी है । क्या वे वास्तविक स्वतंत्रता-दिवस मना सकेंगे ? आज जो कुछ भी सुनने को मिल रहा है-वह चाहे किसी वर्ग-विशेष में मिलता हो परन्तु सुन-सुन कर विचार अवश्य होता है कि यह कैसी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आ गई ?

मांग हो सकती है परन्तु उसके तरीके भी तो हैं । यदि नजदीक से देखें तो यह तरीका महात्मा गांधी ने भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन से बता दिया । उन्होंने अंग्रेजों को हटाने के लिये तोड़-फोड़ का निर्देश कभी नहीं किया । गांधीजी की जीवनी को देखते हैं तो प्रकट होता है कि उनका जीवन पर नियंत्रण था । उन्होंने स्वतंत्रता का आंदोलन चालू किया तो प्रारम्भ में उनके साथ केवल उन्नीस ही व्यक्ति थे । परन्तु उनकी आवाज में बल था, राष्ट्रीय भावना थी और राष्ट्रीय-चरित्र था । आखिर वे कामयाब हो गए । यह बात अलग है कि अन्य सूत्रों से स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रसंग में हिंसा का तांडव-नृत्य हुआ । परन्तु उनका यह संकेत कभी नहीं था कि हिंसा का तांडव-नृत्य हो । उन्होंने किस तरह से कार्य किया, यह इतिहास के पृष्ठों को देखेंगे तो हजारों वर्षों में भी ऐसा रूपक नहीं मिलेगा कि अहिंसा से स्वतंत्रता प्राप्त की गई ।

हिंसा में विश्वास रखने वाले देश भी अब यह सोचने लगे हैं कि वस्तुतः विश्व में शांति होगी तो वह हिंसा से नहीं परन्तु निःशस्त्रीकरण से ही होगी । शस्त्रों के बल से शांति कभी नहीं होगी । कम-से-कम आज वे मुंह से तो ऐसा कहने लगे हैं । उनके मन में भले ही दूसरी बात हो, परन्तु उनकी वाणी में और मस्तिष्क में यह तत्त्व आ जरूर गया है । उनको देखकर भारतीयों को यह तथ्य अपनाना चाहिये कि जो हिंसा में विश्वास रखने वाले हैं, वे व्यक्ति भी अहिंसा की बात कहने लगे हैं । हमको इसके लिये गौरवान्वित होना चाहिये । परन्तु इस तथ्य को भुला कर भारतीय विपरीत दिशा में चल रहे हैं । आज यहां हिंसा में विश्वास किया जा रहा है । आज भारत में रहने वाले भी हिंसा के

कार्यों को प्रश्रय दे रहे हैं।

हमें सोचना चाहिये कि जिनके हाथों में आज देश का तंत्र सौंपा जा रहा है, उनकी मानस-वृत्ति क्या है ? क्या वे कम-से-कम अपने व्यक्तिगत जीवन में तो स्वतंत्र हैं ? क्या परिवार और समाज की स्वतंत्रता है ? मस्तिष्क की दृष्टि से देखा जाय तो वे विचारों की स्वतंत्रता का ढिंढोरा मात्र पीटते हैं परन्तु मानसिक दृष्टि से अधिकांश परतंत्र ही बने हुए हैं। परतन्त्र किस बात के ? अंग्रेज चले गए परन्तु भारतीयों के मन में आज भी अंग्रेजों की गुलामी छाई हुई है। वे परतंत्र बने हुए हैं परन्तु स्वयं की दृष्टि से ऐसा जरूर कहते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। क्या इस प्रकार से वे अपने को स्वतंत्र कहने के हकदार हैं ? वे अपने जीवन को तो देखें कि हमारी कैसी दयनीय दशा है ? वही पाश्चात्य गुलामी चल रही है तो फिर स्वतंत्रता कहां है ? आप स्वयं का तंत्र तो कह रहे हैं परन्तु वह तभी आ सकता है जबकि आप आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चिंतन करके चलें। ध्यान रहे कि हमारा जीवन राष्ट्र में, समाज में, परिवार में भले ही रहे परन्तु यदि वह आध्यात्मिकता से शून्य है तो कोई मधुर फल आने वाला नहीं है। यदि वह आएगा भी तो केवल इतना ही आ सकता है कि भद्रिक (भोलीभाली) जनता से वोट ले लिया जाये और फिर सिंहासन प्राप्त करके जो कुछ भी धांधलेबाजी चल सकती है, उसे चलाया जाये। यदि वे ऐसी भावना रख रहे हैं और फिर भी कहते हैं कि हम वस्तुतः राष्ट्र के नागरिक हैं तो तटस्थ व्यक्ति यही कहेंगे कि यह सब धोखा अथवा छलावा मात्र है।

जिसमें स्वतंत्रता के भाव हैं, वह व्यक्ति स्वच्छंदता में नहीं जाएगा। ये दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। आज स्वतंत्रता के नाम से जीवन में स्वच्छंदता चल रही है। इच्छा के अनुसार रीति-नीति चल रही है। किसी का किसी पर अंकुश नहीं, प्रभाव नहीं। लोग अपनी इच्छा के अनुसार धांधलेबाजी चला रहे हैं। यह मानसिक परतन्त्रता है, असंयमी जीवन की परतन्त्रता है। ऐसी स्थिति में मानव अपने जीवन का विकास

नहीं कर सकता। यद्यपि मैं तो अपनी भाषा में ही कह सकता हूं परन्तु आप अपनी स्थिति से चिंतन करें और इस दृष्टि से सोचें कि आपका जीवन क्या है? भारतीयों का जीवन क्या है, उनका क्या उत्तरदायित्व है और किस उत्तरदायित्व को लेकर वे चल रहे हैं? मेरे भद्रिक भाई यही सोचते होंगे कि यह काम तो उनका है, जिनके हाथ में शासनतन्त्र है। परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है। यह कार्य तो प्रत्येक नागरिक का है। व्यक्ति में यदि इस प्रकार की भावना आ जाए तो वह अपने स्वार्थ को, अपने जीवन को भी अर्पण कर सकता है, परन्तु राष्ट्रीय उन्नति पर धव्वा नहीं आने देता है।

मैंने किसी पुस्तक में पढ़ा है कि जापान का एक गरीव व्यक्ति जहाज में नौकरी करता था। एक भारतीय उसी जहाज में सफर कर रहा था। भारतीय को फलों की आवश्यकता अनुभव हुई। उसने जहाज में तलाश की, परन्तु उसको वहां फल उपलब्ध नहीं हुए तो वह जोर-जोर से चिल्ला कर कहने लगा कि यह कैसा निकम्मा देश है कि जिसके जहाज में फल तक उपलब्ध नहीं हैं। इन कठोर वचनों को सुन कर वह मजदूर उन महाशयजी के पास पहुँचा और नम्रता से कहने लगा, "आप क्या फरमा रहे हैं? जरा ठहरिए।" और फिर वह अपने स्थान पर गया, जहां उसने अपने लिये कुछ फल रख छोड़े थे। उनको लेकर वह आया और उन महाशयजी को भेंट कर दिया। वह भारतीय फल प्राप्त करके खुश हो गया और पैसे निकाल कर देने लगा तो उस भाई ने कहा, "मेहरवान, माफ कीजिए, मुझे पैसे नहीं चाहिये। परन्तु आपसे मेरा सानुरोध निवेदन है कि आप कृपया मेरे देश के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग कभी न करें।"

उस गरीव व्यक्ति के मन में अपने देश के प्रति जो राष्ट्रीय भावना थी, क्या वही भावना आज भारतीय जनता में भी है? आज भारत के व्यक्ति ही भारत के लिए क्या कुछ बोल जाते हैं सो आप जानते ही हैं। वे कार्य करना नहीं जानते, वे केवल बोलना जानते हैं और उनका बोलना भी स्वच्छंद तरीके से होता है। वे कहते हैं कि हमें वाणी की

स्वतंत्रता है । इसलिये वे इच्छा के अनुसार बिना लगाम, बिना अंकुश जो कुछ भी बोलना चाहें बोल जाते हैं । यह स्वतंत्रता है या स्वच्छंदता ?

एक दूसरा उदाहरण और लीजिये—जब रूस और जापान का युद्ध छिड़ा तो एक जगह केवल पचास जापानी अढ़ाई सौ रूसियों के साथ भिड़ गए और जी-जान से संघर्ष करते रहे । उस प्रसंग पर अड़तालीस जापानी मारे गए और दो शेष रहे । वे दोनों भी घेरे में पड़ गए । उनमें से एक घायल हो गया । जब बचने का कोई अवसर नहीं रहा तो घायल जापानी ने ऐसी अवस्था में अपना झंडा साथी को सौंपते हुए कहा, "इसे ले जाकर मेरी पत्नी को दे देना और कह देना कि तुम्हारा पति लौट कर नहीं आ सकता है । परन्तु तुम अपने जीवन को राष्ट्रीय-जीवन के साथ सम्बद्ध रखना ।" उसने यह संदेश अपने साथी को दिया । फिर उसका प्राणान्त हो गया । रूसी सिपाही उसके साथी को पकड़ कर सेनापति के पास ले गए । अपने देश का झंडा उसके हाथ में था । सेनापति ने कहा कि यह झंडा अब रूस को समर्पण कर दो । उसने कहा कि मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता । सेनापति ने कहा, "तुम जान से चले जाओगे । यदि झंडा अर्पण करोगे तो बच जाओगे ।" उस जापानी ने उत्तर दिया, "मुझे मरना कबूल है परन्तु झंडा देना कबूल नहीं है ।" अंततोगत्वा उसको तोप के मुंह पर खड़ा कर दिया गया । अन्तिम निर्देश भी कर दिया गया । इधर तोप चली और उसके शरीर को भेदन करके उसके हाथ से झंडा उड़ा । वह सेनापति के मस्तक पर गिरा । उसने झंडा समर्पण नहीं किया । देखिए, जापानियों को चाहे आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा न मिली हो, परन्तु जिस भूमिका में वे हैं तो उस भूमिका में जीवन कैसा है ?

आज तो हमारे यहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी गायब है । लोग स्वयं को असुरक्षित अनुभव करते हैं, आसुरी अवस्था चल रही है । समाज में भी स्वच्छंदता की स्थिति है और उसी में से आते हैं राष्ट्र के चुने हुए सदस्य । क्या वे स्वतंत्रता को दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकेंगे ? यह तो भावी

के गर्भ की बात है परन्तु अब भी समय है यदि भारतीय संभल गए और वास्तविक कर्तव्य को संभाल लिया तथा आध्यात्मिकता के साथ स्वतंत्रता सीख गए और अपने जीवन तथा मन पर नियंत्रण रखा तो उनकी स्वतंत्रता सुरक्षित है।

समता के धरातल पर चलने की नितान्त आवश्यकता है और यदि समता-सिद्धांत दर्शन के आधार पर चलने की स्थिति बनी तो मैं कह सकता हूं कि भारत ही नहीं, सारे विश्व के सामने अमोघ शांति का प्रशस्त-मार्ग आ सकता है। समता-सिद्धांत-दर्शन व्यक्ति की मानसिक दशा को मांजता है। ऐसा व्यक्ति जहां रहेगा, वहां अपने उत्तरदायित्व को लेकर चलेगा। वह अपना उत्तरदायित्व तो पूरा निभाता ही है परन्तु यदि उसका साथी कमजोर है, तो वह उसको भी सहायता देकर पार लगाएगा। जिसमें इस प्रकार के नियंत्रण की स्थिति आती है, वही व्यक्ति स्वातंत्र्य के झंडे को हाथ में स्थिर रख सकता है। इस प्रकार यदि आध्यात्मिक जीवन ठीक हो गया तो परिवार, समाज और सारे संसार के सामने समता जीवन दर्शन का आदर्श उपस्थित होगा। इसी भावना के साथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियों का संबोधन कर रहा हूं—

ढाल तलवारनी सोहली, दोहली चोदमा जिन तणी चरणसेवा।

बंधुओ! तलवार की धार से भी भगवान की चरण-सेवा कठिन मानी गई है। अतः जो सब धरातलों पर साधना करके अपने जीवन को लेकर चलेगा और आवश्यक स्थिति में संयमित अवस्था को रख कर बढ़ने की कोशिश करेगा वह शांति का अनुभव कर सकेगा। राष्ट्रीय-दिवस के उपलक्ष्य में जो कुछ कहा गया है, उसका आप चिंतन-मनन करें। उसके साथ आप अपने मस्तिष्क की गुत्थियों को समता-सिद्धांत दर्शन के द्वारा सुलझाने की कोशिश करें।

आप समता-सिद्धांत-दर्शन के साथ चलते हुए यदि सही दृष्टि-कोण से अपने जीवन का परिमार्जन करने की कोशिश करेंगे तो आप स्वतंत्रता-दिवस के उपलक्ष्य में व्यक्ति, परिवार और समाज सबके कर्तव्य

को समझ पायेंगे। इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व को वहन करते हुए एक दिन आप ऐसी भी अवस्था देख पायेंगे कि सब क्षेत्रों में मधुर फल का आस्वादन करते हुए और अपने मार्ग पर आगे बढ़ते हुए आप परमात्मा बन सकें।



बीकानेर—

सं० २०३०, भाद्रपद कृष्णा १

पुरुषार्थ

वासुपूज्य जिन-त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामी रे।

आज प्रार्थना की पंक्तियों के स्वर और नाम में परिवर्तन आया है। सिद्ध अवस्था में रहने वाले परमात्मा को किस नाम से पुकारा जाए, किस नाम से उनकी स्तुति की जाए, यह एक प्रश्न है। ज्ञानी-जनों का कथन है कि नाम के पीछे मत उलझो परन्तु नाम के साथ कौन-सा अर्थ समक्ष आ रहा है, यह समझो। 'घट' (घड़ा) शब्द का उच्चारण होते ही मनुष्य 'घट' शब्द को नहीं पकड़ता है परन्तु उससे निकलने वाले अर्थ को वह समझ जाता है कि पानी भरा जाने वाला ऐसे आकार का जो वर्तन है, उसे घट कहते हैं। घड़ा कहो या कलश कहो, दोनों शब्दों से जैसे वह उस पानी भरने के साधन को समझ लेता है, वैसे ही परमात्मा नाम के उच्चारण के साथ परमात्मा के स्वरूप को अपनी बुद्धि में ग्रहण कर लेना चाहिये। वे सिद्ध अवस्था में रहने वाली आत्माएं अनन्त गुणों से सम्पन्न बन चुकी हैं। जिनकी समग्र शक्तियां चरम सीमा के रूप में परम पवित्रता को प्राप्त हो चुकी हैं, उन आत्माओं को हम किसी भी शब्द से समझें, अर्थ वही होना चाहिये। उस अर्थ की स्थिति को लेकर आज की कविता में कुछ संकेत दिया गया है कि—

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन-स्वामी, घननामी परनामी रे।

आप वासुपूज्य के नाम से पुकारे जाते हैं। आप तीन लोक के स्वामी हैं। आपके गुणों का चिट्ठा (विवरण) मैं गिनती की दृष्टि से पेश नहीं कर सकता। परन्तु मैं एक ही शब्द के द्वारा आपके समग्र नामों को ग्रहण करता हूं कि आप घननामी हैं अर्थात् आपके इतने नाम

हैं कि इन्सान उनकी गिनती नहीं कर सकता है। प्रभु की एक-एक शक्ति के पीछे यदि एक-एक नाम भी रखा जाए तो अनन्त नामों का चिट्ठा सामने आता है। उनकी गिनती करने में मनुष्य असमर्थ है। इन सब शब्दों को एक नाम के रूप में ग्रहण करके मैं आपके वास्तविक स्वरूप की ओर मुड़ना चाहता हूं कि आप 'परनामी' हैं अर्थात् इतने नाम होते हुए भी आप नामों से परे हैं। नामों के साथ आपका सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आप परनामी भी हैं।

ऐसे शुद्ध स्वरूपी परमात्मा को भव्यात्मायें किस रूप में ग्रहण करें? यदि उनको ग्रहण करना है तो वर्तमान शक्ति के साथ करना है। उस परमात्मा की जाति जैसा तत्त्व मनुष्य के शरीर-पिण्ड में विद्यमान है। परमात्मा की जितनी व्याख्यायें अभी की गई हैं, उन्हीं व्याख्याओं के अनुरूप और दूसरे शब्दों में कहा जाए तो भगवान के अनुरूप भगवान की परिपूर्णता की योग्यता, चैतन्य तत्त्व आत्मा (मानव) के जीवन में विद्यमान है। वह है तो जीवन है और यदि वह नहीं है तो फिर जीवन भी नहीं है।

मानव बहुत बड़ी शक्ति को संचित करके बैठा हुआ है। वह बहुत बड़ी निधि को लेकर चल रहा है। वह बहुत बड़े चिंतामणि-रत्न को पास में रख कर सो रहा है। परन्तु उस चिंतामणि-रत्न का उसको कुछ भी ज्ञान नहीं है। उसे उस पवित्र शक्ति का ध्यान नहीं है। ऐसी दशा में ही ज्ञानीजनों का कथन है कि वे अनन्त करुणा की दृष्टि से अपने कर्तव्य का वहन करने की भावना से भव्य प्राणियों को जगाने की कोशिश करते हैं। मानव को जागने की आवश्यकता है। वह चिंतन करे कि ऐसी शक्तियों का पुंज और चिंतामणि-रत्न, जो वांछित इच्छापूर्ति करने वाला तत्त्व है, मेरे पास है तो मैं दरिद्री कैसे हूं? मैं क्यों अपनी आत्मा के अन्दर हीन-भावना को पा रहा हूं? रात और दिन मेरे चेहरे पर उदासी छाई रहती है, मैं चिंता ही चिंता करता रहता हूं कि क्या करूं, मेरे पास अमुक चीज नहीं है, मैं अमुक कष्ट से ग्रसित हो गया, मेरे

ऊपर अमुक विपत्ति आ गई, अमुक समस्या आ गई तो उसकी पूर्ति कैसे की जाये, अब कैसे क्या होगा ? इस प्रकार की धारणा को मस्तिष्क में लाकर यह आत्मा अपने आपको हीन-भावना में वहा रही है। इस हीन-भावना का दुष्परिणाम यह है कि इन्सान की प्रफुल्लित वनने की शक्ति का विकास नहीं हो रहा है, उसे पवित्र शक्ति का उद्‌वोधन नहीं मिल रहा है।

इन्सान को अपनी शक्ति पर विश्वास रख कर चलना है और दृढ़ता के साथ विकास करने का संकल्प करना है। जब तक वह दृढ़तापूर्वक अपने जीवन को नहीं संभालेगा, तव तक जीवन की दयनीय दशा न आज समाप्त होने वाली है, न कल समाप्त होने वाली है और न वर्षों वाद समाप्त होने वाली है। उसकी यह दशा भूतकाल से, वहुत वर्षों से, अनादि काल से चली आ रही है और भविष्य में भी चलती रह सकती है। यदि वह इस जीवन को महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देखना चालू कर दे तो उसे पूर्वकालीन वृत्तान्त ज्ञात हो सकता है और भविष्य के लिये भी भव-भ्रमण की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

आत्मा इस जीवन में वास्तविक आनन्द की अनुभूति कर सकती है। परन्तु यह अनुभूति सहसा एक साथ उपलव्ध नहीं हो सकती। यदि इसको शनैः-शनैः संपादित किया जाए तो यह अवश्य ही इस जीवन की वास्तविक उपलब्धि कर सकती है। मानव का ध्यान जब इस विषय की ओर हो, तो कैसा भी कुछ हो, वह इस काम को पूरा कर सकता है।

एक मनुष्य ने वहुत वड़ी गेहूं की राशि देखी, जिसमें वहुत अधिक कंकर मिले हुए थे। फिर उसने यह विचार किया कि इस गेहूं के साथ वहुत कंकर हैं और यदि ये कंकर साथ रखे गए तो मेरे जीवन के लिये घातक वनेंगे। मैं इन कंकरों को वीन लूं तो शुद्ध गेहूं मेरे जीवन के लिये हितावह हो सकता है। इस भावना से यदि वह गेहूं को देखना चालू करे और उसमें रहने वाले कंकरों को चुनने की कोशिश करे तो आहिस्ता-आहिस्ता वह उस गेहूं की राशि को कंकरों से रहित

कर सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि गेहूं की राशि को मैं एक साथ ही कंकरों से रहित कर दूं तो यह शक्य नहीं है।

इस जीवन की मन्द राशि में कंकरों के समान जो हीन-भावनाओं का संचय है, मलिन तत्त्वों की उपस्थिति है, यदि उनको चुनने का कोई मुहावरा बना ले तो वह प्रतिदिन अपने गुणों में वृद्धि करता हुआ अपने इसी जीवन में पुण्यशाली बन सकता है। यदि कोई मनुष्य कभी ऐसा सोचता है कि मैं इस वर्तमान दृष्टि से जीवन को पुण्यशाली कैसे बना सकता हूं क्योंकि मेरा जन्म तो एक दरिद्र घराने में हुआ है और मैं स्वयं भी दरिद्र हूं, यदि इस प्रकार की भावना किसी के मस्तिष्क में हो तो यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है। मनुष्य का जन्म चाहे किसी घराने में हुआ हो परन्तु आत्मा स्वयं दरिद्री नहीं है। यदि कोई आत्मा आर्थिक दृष्टि से कमजोर परिवार में जन्म लेने पर भी पुरुषार्थ करे तो वर्तमान जीवन में वह समृद्धिशाली बन सकती है। साथ ही वह अपने पूर्व के बांधे हुए भाग्य का भी परिवर्तन कर सकती है, बशर्ते कि वह मजबूत बंध-वाला नहीं हो। कहा है कि—

'पूर्व-जन्म-कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।'

पूर्व जन्म में जो कर्म किए गए हैं, उनका आत्मा के साथ बंध हुआ है—वही भाग्य और दैव की संज्ञा पाता है। यदि वह बंधन ढीला हो और वर्तमान में दरिद्री अवस्था में पैदा होने वाला व्यक्ति सत्संग के सम्पर्क से अच्छा पुरुषार्थ करे तो वह पूर्वजन्म के दुर्भाग्य को भी सद्भाग्य में परिवर्तित कर सकता है। सामुद्रिकशास्त्र के ग्रंथों के अनुसार हस्त-रेखाओं को लेकर लोग भाग्य का चिन्तन किया करते हैं कि तू अमुक बन सकता है और तू अमुक नहीं बन सकता है। परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि यह सब भूल-भुलैया का खिलौना है। यदि इन्सान अपनी स्वयं की शक्ति पर विश्वास करे, संयमित जीवन से दृढ़ पुरुषार्थ करे तो वह पूर्व की रेखाओं का आमूल-चूल परिवर्तन कर सकता है। रेखाओं को देख कर अपने पुरुषार्थ का चयन मत करो। परन्तु आत्मिक शक्ति

को देख कर अपने पुरुषार्थ का चयन करो। ये तो छाया की तरह बद-लती हुई चली जायेंगी।

सूर्योदय के समय जो मनुष्य सूर्य की तरफ पीठ करके पश्चिम की ओर मुंह करता है तो उसे अपनी छाया लम्बी दिखलाई देती है। वह छाया को देखता हुआ सोचता है कि मैं बहुत बड़ा हूं। मैं हाथ ऊंचे करूं तो और भी बड़ा हो सकता हूं। वह अपने हाथों को ऊंचा करता है। हाथ लंबे दिखलाई देते हैं। वह झुकता है तो छाया भी झुकती है। वह टेढ़ा होता है तो छाया भी टेढ़ी हो जाती है। वह मुंह फेरता है तो छाया भी मुंह फेर लेती है। इस प्रकार छाया पुरुष के आधीन है। छाया के अनुरूप पुरुष नहीं है, पुरुष के अनुरूप छाया है। यदि इन्सान उस छाया को विशेष महत्त्व न देकर अपने जीवन को महत्त्व दे तो वह अपनी छाया को इच्छानुसार मोड़ सकता है। यदि वह जीवन को गौण करके छाया को पकड़ने के लिए दौड़ता है, जिधर छाया है उधर भागता है तो क्या छाया पकड़ में आ सकती है ? वह कितना भी दौड़े परन्तु छाया उसके हाथ में आने वाली नहीं है। वैसे ही इन्सान का पूर्वकृत भाग्य, उसकी हथेली की रेखाएं और शारीरिक चिह्न ये सब छाया के तुल्य हैं। यदि वह अपनी शक्ति को मोड़ता है तो उसके भाग्य में भी मोड़ आता है। इन्सान अपनी शक्ति को कुबड़ा करेगा तो उसमें भी कुबड़ापन आ जाएगा। यदि व्यक्ति यह सोच ले कि ये रेखाएं कुछ नहीं, ये तो छाया के तुल्य है, मैं इन्हें मोड़ सकता हूं तो वह जीवन की शक्ति को संभाल लेगा। परन्तु मनुष्य के मन में यह उदात्त भावना, यह शक्ति योग्य व्यक्तियों के सम्पर्क से ही आ सकती है। यदि उनका सम्पर्क निरं-तर चलता रहा और उनके पद-चिह्नों पर चला जाए तो इन्सान बहुत बड़ी शक्ति पाकर बड़े व्यक्तियों के समान आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

सुख-विपाक सूत्र में जो कुछ भी वर्णन है, वह इसी भावना को प्रकाशित करने वाला है। उसमें पहला अध्ययन, सुबाहुकुमार नाम का है। सुबाहुकुमार अपने पूर्वकृत भाग्य का ऐसा बड़ा समूह लेकर आये थे

कि जिससे वर्तमान में वे समृद्धिशाली तो बने ही परन्तु शारीरिक दृष्टि से भी वे कांतिमय, प्रियकारी और जनमानस के लिए आकर्षण के केन्द्र-विन्दु बने हुए थे। ऐसी स्थिति में भी उनके मस्तिष्क में पूर्वजन्म के भाग्य की समृद्धि के पीछे अहंकार-वृत्ति नहीं थी। वे सदा नम्र होकर चलते थे। उनका चिन्तन यही रहता था कि पूर्वजन्म में मैंने सत्कर्म किए, उनका फल मुझे वर्तमान में मिला और वर्तमान में मैं सत्कर्म करूंगा तो इससे मैं अपना वर्तमान भी धन्य बनाये रख सकूंगा।

इसी भावना को लेकर सुबाहुकुमार प्रभु महावीर के चरणों में पहुँचे। वे जानते थे कि प्रभु महावीर यद्यपि मानव-पिण्ड (शरीर) की दृष्टि से एक क्षत्रिय-कुल के भूपण हैं, क्षात्रकुल में जन्म लेने वाले एक मानव हैं परन्तु अब वे केवल इस कुल के भूषण ही नहीं रहे हैं, वे सम्पूर्ण जगत् के भूषण बन गए हैं। परन्तु वे बने कैसे ? पूर्वजन्म से तो वे समृद्धि लेकर आए ही थे परन्तु वर्तमान के पुरुषार्थ से वे दिव्य शक्ति-सम्पन्न होकर केवलज्ञान, केवलदर्शन से युक्त बने हैं। आज वे समस्त संसार के पदार्थों को हथेली की रेखाओं के समान स्पष्ट रूप से देख रहे हैं। उनसे मेरा जीवन छिपा हुआ नहीं है। ऐसे वीर प्रभु का आगमन सहसा समीप हो और मैं उनके पावन दर्शन के लिये नहीं जा सकूं, यह मेरे भाग्य की बहुत बड़ी कमजोरी होगी, दुर्भाग्य की अवस्था होगी। मुझे ऐसे दिव्य पुरुष के चरणों में अवश्य पहुँचना है और उनको वन्दन-नमस्कार करके उनके दिव्य-संदेश को ग्रहण करना है। यदि उनके उपदेश के अनुरूप मैं वर्तमान पुरुषार्थ को बनाऊंगा तो मैं भी उनके तुल्य दिव्य शक्ति पा सकूंगा।

ऐसी दिव्य आत्माओं के मानस में न जाने किस-किस प्रकार की उदात्त-भावनाओं का संचार होता है, यह तो वे ही सोच सकते हैं परन्तु उन प्रक्रियाओं से उत्प्रेक्षा करके अनुमानतः उन भावों को अंकित किया जा सकता है। सुबाहुकुमार सम्पन्न होते हुए भी प्रभु के चरणों में पहुँचे। उनकी पोशाक बहुत बढ़िया थी। वे जेवर आदि धारण किये हुए थे।

को देख कर अपने पुरुषार्थ का चयन करो। ये तो छाया की तरह बदलती हुई चली जायेंगी।

सूर्योदय के समय जो मनुष्य सूर्य की तरफ पीठ करके पश्चिम की ओर मुंह करता है तो उसे अपनी छाया लम्बी दिखलाई देती है। वह छाया को देखता हुआ सोचता है कि मैं बहुत बड़ा हूं। मैं हाथ ऊंचे करूं तो और भी बड़ा हो सकता हूं। वह अपने हाथों को ऊंचा करता है। हाथ लंबे दिखलाई देते हैं। वह झुकता है तो छाया भी झुकती है। वह टेढ़ा होता है तो छाया भी टेढ़ी हो जाती है। वह मुंह फेरता है तो छाया भी मुंह फेर लेती है। इस प्रकार छाया पुरुष के आधीन है। छाया के अनुरूप पुरुष नहीं है, पुरुष के अनुरूप छाया है। यदि इन्सान उस छाया को विशेष महत्त्व न देकर अपने जीवन को महत्त्व दे तो वह अपनी छाया को इच्छानुसार मोड़ सकता है। यदि वह जीवन को गौण करके छाया को पकड़ने के लिए दौड़ता है, जिधर छाया है उधर भागता है तो क्या छाया पकड़ में आ सकती है ? वह कितना भी दौड़े परन्तु छाया उसके हाथ में आने वाली नहीं है। वैसे ही इन्सान का पूर्वकृत भाग्य, उसकी हथेली की रेखाएं और शारीरिक चिह्न ये सब छाया के तुल्य हैं। यदि वह अपनी शक्ति को मोड़ता है तो उसके भाग्य में भी मोड़ आता है। इन्सान अपनी शक्ति को कुबड़ा करेगा तो उसमें भी कुबड़ापन आ जाएगा। यदि व्यक्ति यह सोच ले कि ये रेखाएं कुछ नहीं, ये तो छाया के तुल्य है, मैं इन्हें मोड़ सकता हूं तो वह जीवन की शक्ति को संभाल लेगा। परन्तु मनुष्य के मन में यह उदात्त भावना, यह शक्ति योग्य व्यक्तियों के सम्पर्क से ही आ सकती है। यदि उनका सम्पर्क निरंतर चलता रहा और उनके पद-चिह्नों पर चला जाए तो इन्सान बहुत बड़ी शक्ति पाकर बड़े व्यक्तियों के समान आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

सुख-विपाक सूत्र में जो कुछ भी वर्णन है, वह इसी भावना को प्रकाशित करने वाला है। उसमें पहला अध्ययन, सुबाहुकुमार नाम का है। सुबाहुकुमार अपने पूर्वकृत भाग्य का ऐसा बड़ा समूह लेकर आये थे

कि जिससे वर्तमान में वे समृद्धिशाली तो बने ही परन्तु शारीरिक दृष्टि से भी वे कांतिमय, प्रियकारी और जनमानस के लिए आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु बने हुए थे। ऐसी स्थिति में भी उनके मस्तिष्क में पूर्वजन्म के भाग्य की समृद्धि के पीछे अहंकार-वृत्ति नहीं थी। वे सदा नम्र होकर चलते थे। उनका चिन्तन यही रहता था कि पूर्वजन्म में मैंने सत्कर्म किए, उनका फल मुझे वर्तमान में मिला और वर्तमान में मैं सत्कर्म करूंगा तो इससे मैं अपना वर्तमान भी धन्य बनाये रख सकूंगा।

इसी भावना को लेकर सुबाहुकुमार प्रभु महावीर के चरणों में पहुँचे। वे जानते थे कि प्रभु महावीर यद्यपि मानव-पिण्ड (शरीर) की दृष्टि से एक क्षत्रिय-कुल के भूपण हैं, क्षात्रकुल में जन्म लेने वाले एक मानव हैं परन्तु अब वे केवल इस कुल के भूषण ही नहीं रहे हैं, वे सम्पूर्ण जगत् के भूषण बन गए हैं। परन्तु वे बने कैसे? पूर्वजन्म से तो वे समृद्धि लेकर आए ही थे परन्तु वर्तमान के पुरुषार्थ से वे दिव्य शक्ति-सम्पन्न होकर केवलज्ञान, केवलदर्शन से युक्त बने हैं। आज वे समस्त संसार के पदार्थों को हथेली की रेखाओं के समान स्पष्ट रूप से देख रहे हैं। उनसे मेरा जीवन छिपा हुआ नहीं है। ऐसे वीर प्रभु का आगमन सहसा समीप हो और मैं उनके पावन दर्शन के लिये नहीं जा सकूं, यह मेरे भाग्य की बहुत बड़ी कमजोरी होगी, दुर्भाग्य की अवस्था होगी। मुझे ऐसे दिव्य पुरुष के चरणों में अवश्य पहुँचना है और उनको वन्दन-नमस्कार करके उनके दिव्य-संदेश को ग्रहण करना है। यदि उनके उपदेश के अनुरूप मैं वर्तमान पुरुषार्थ को वनाऊंगा तो मैं भी उनके तुल्य दिव्य शक्ति पा सकूंगा।

ऐसी दिव्य आत्माओं के मानस में न जाने किस-किस प्रकार की उदात्त-भावनाओं का संचार होता है, यह तो वे ही सोच सकते हैं परन्तु उन प्रक्रियाओं से उत्प्रेक्षा करके अनुमानतः उन भावों को अंकित किया जा सकता है। सुवाहुकुमार सम्पन्न होते हुए भी प्रभु के चरणों में पहुंचे। उनकी पोशाक वहुत वढ़िया थी। वे जेवर आदि धारण किये हुए थे।

परन्तु जैसे ही वे त्यागियों के चरणों पहुंचे तो इस बढ़िया पोशाक का आकर्षण उनके मन से लुप्त हो गया। वे उनके त्याग का साकार रूप देख कर सोचने लगे, "इन सर्वस्व-त्यागियों के समक्ष यह भभकेदार पोशाक कुछ भी महत्त्व नहीं रखती है।" जहां से प्रभु के दर्शन हुए, वहीं से वे नतमस्तक हो गए। वे पांच अभिगम सूचनाओं का ध्यान रख कर चले। उत्तरासन लगा लिया गया। अर्थात् एक कपड़ा मुंह के सामने डाल लिया, जिससे कि वाणी बिना आवरण के नहीं निकले। खुले मुंह से वचन निकल गए तो जीवों की हिंसा होगी। किसी प्रकार की हिंसा नहीं करनी है। उन्होंने अभिमानसूचक चीजें अलग रखीं। फूल माला उतार कर अनुचर के हाथ में दी। इस प्रकार वे प्रभु के समवसरण में गए और वहां पहुंच कर पांचों अंग नवा कर वंदन किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि मैं इस समय वन्दन कर रहा हूं तो मेरी धोती के धूल लग जाएगी या मेरे आभूषण इधर-उधर झूल जायेंगे।

यह विचार तो उन प्राणियों को होता है जो त्यागी को महत्त्व न देकर अपनी भड़कीली पोशाक को महत्त्व देते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने बहुमूल्य फल को खो देते हैं। आजकल जहां नमन करने का प्रसंग आता है तो उनके घुटने ऊपर ही रह जाते हैं। वे इस वंदन के अनुरूप यत्किंचित् पुण्य का संचय करते हैं और आत्मा की शुद्धि भी यत्किंचित् होती है परन्तु यदि उनका ध्यान त्यागी के अनुरूप बन जाए तो कितने भी बहुमूल्य वस्त्र हों, इसका विचार नहीं रख कर वे पुण्य का फल प्राप्त करने के लिये जमीन पर झुक जायेंगे।

आज के युग में भी कई प्राणी ऐसे हैं जो बढ़िया पोशाक को महत्त्व न देकर श्रद्धायुक्त वंदन को ही महत्त्व देते हैं। परन्तु ऐसे प्राणी विरले ही होते हैं। वे यही सोचते हैं कि वंदन से हमारे नीच गोत्र के कर्म क्षय होंगे और उच्च-गोत्र के कर्म बंधेंगे। परन्तु ऐसा चिन्तन वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने वंदन का महत्त्व समझा हो। दुर्भाग्य की रेखा कैसे कटती है और सद्भाग्य का निर्माण कैसे होता है, इस आंतरिक भावना

को नहीं समझेंगे तब तक वैसे फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मैं आपसे कुछ संकेत कर रहा हूं कि सुबाहुकुमार का वंदन भी वैसा ही था। वे विनम्र भावना से सुख-शांति पूछ कर आगे बढ़े तो उनके मस्तिष्क में यह विचार नहीं था कि ये प्रभु महावीर हैं, मैं इन्हें तो वन्दन कर लूं परन्तु जो अन्य मुनि बैठे हुए हैं, उनको छोड़ कर चला जाऊं। वे यही सोचते थे कि इनके अनुशासन में रहने वाले जितने संत-सती हैं, ये सब के सब मोतियों की माला हैं। मुझे इनको भी वंदन करना है और सुख-शांति पूछ कर पूरा महत्त्व देना है। ऐसा विचार होना व्यक्ति को महत्त्व देना नहीं है, परन्तु धर्म और शासन को महत्त्व देना है और साथ ही साथ अपने सद्भाग्य को भी महत्त्व देना है। यह उपलब्धि वंदन करने वाले को होगी, जिसको वंदन किया जा रहा है, उसको नहीं होगी। सुबाहुकुमार के लिए इस प्रकार वंदन और भाव-भक्ति तथा प्रभु के चरणों में बैठ कर जीवन के निर्माण की कला सीखना, यह एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था। उन्होंने बारह व्रतों का स्वरूप समझा और उन्हें अंगीकार किया। वे बहुत बड़ी आत्म-निधि प्राप्त करके और जीवन के कल्याण का साधन जुटा कर वहां से अपने घर लौट आए।

इस दृश्य को देख कर त्यागी-वर्ग में भी आश्चर्य उत्पन्न हो गया। यहां तक कि भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम सरीखे दिव्य-पुरुष के मन में भी यह जिज्ञासा पैदा हो गई कि यह सुबाहुकुमार कैसे पुण्य का स्वामी बन कर आया है और इतना पुण्य इसने कहां संचित किया? यह उसका फल वर्तमान में तो भोग ही रहा है परन्तु भविष्य के लिये भी कितना पुण्य बांध रहा है! मैं इस जिज्ञासा का प्रभु से समाधान कर लूं। इसी भावना को लेकर उन्होंने विधि-सहित प्रभु को वंदन किया और प्रश्न रखा, "भगवन्! इस सुबाहुकुमार ने पूर्वजन्म में क्या किया? 'किं वा दच्चा किं वा भुच्चा किं वा समायरित्ता?' इसने कौन-सा दान दिया, क्या खाया और कौन-सा आचरण किया कि जिसके परिणाम-स्वरूप यह सुबाहु बना? इस अवस्था में आकर भी इसको

अभिमान नहीं छू रहा है ! यह किस प्रकार की नम्र वृत्ति के साथ अमूल्य निधि को बढ़ा रहा !"

यदि आप अपने जीवन के प्रत्येक चरण को देखने को कोशिश करें तो प्रत्येक चरण में पुण्य वांध सकते हैं, धर्म कर सकते हैं और जीवन को मोड़ सकते हैं। परन्तु वह विज्ञान और कला मानव के मस्तिष्क में हो, तभी यह काम बन सकता है। भाई ! खाने से भी पुण्य बंधता है, निर्जरा होती है और आत्मशुद्धि होती है। खाने से पाप भी वंध सकता है। वह आत्मा को मलिन कर सकता है। उससे दुर्भाग्य का निर्माण भी हो सकता है। यह तो एक ऐसी तलवार है कि जिसको जिधर भी प्रयोग करना चाहें, उधर ही कर सकते हैं। तलवार को अन्य प्राणियों की शांति के लिये, सुरक्षा के लिये काम में ले सकते हैं तो उससे दूसरों के हाथ-पैर भी काटे जा सकते हैं। वैसे ही इन्सान की जितनी भी क्रियायें हैं, उनसे दुर्भाग्य और सद्भाग्य दोनों का निर्माण हो सकता है।

सुबाहुकुमार के सम्बंध में गौतम गणधर के द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में प्रभु महावीर ने जो उत्तर दिया, वह आप कुछ शब्दों में सुन ही चुके होंगे। मैं उस उत्तर के विषय में विस्तार की स्थिति में नहीं जा रहा हूं। मैं आपके समक्ष कुछ संकेत ही कर रहा हूं कि आप इस आंतरिक शक्ति और निधि को पहिचानें। आप अपने जीवन के स्तर को नीति के साथ रखें, जिससे कि आप प्रतिक्षण अपने सद्भाग्य का निर्माण कर सकें। आप चाहे कुछ भी काम करते हों परन्तु उस प्रसंग पर यदि सद्विवेक का ध्यान है तो सद्भाग्य का निर्माण हो सकता है और सद्गति प्राप्त की जा सकती है।



वीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण कृष्णा ६

राखी का रहस्य

धार तलवारनी सोहली, दोहली चोदमा जिन तणी चरणसेवा ।

अनन्तनाथ परमात्मा का स्वरूप तात्त्विक दृष्टि से समझने योग्य है। प्रभु का जीवन अद्भुत है । इस अद्भुत ज्योति की उपासना तलवार की धार से भी कठिन बतलाई गई है ।

यह पंचम काल है । इसके अन्दर अनेक प्रकार की विचित्र परिस्थितियां मानव मन को शांत न रखते हुए उसकी चंचलता को दिन-प्रतिदिन बढ़ा रही हैं । ऐसी मानसिक दशा में प्रभु के स्वरूप का चिंतन अति कठिन है। वह स्वरूप मन से, बुद्धि के माध्यम से और चिन्तन की शक्ति से समझा जा सकता है । जिस माध्यम से, जिस मन से तात्त्विक दृष्टि का स्वरूप-चिंतन किया जाता है, जब उस मन में ही उलझन हो, मन ही गठीला बना हुआ हो, तब उसकी एकाग्रता स्थिर नहीं रहती है । ऐसी स्थिति में परमात्मा के स्वरूप को समझना कठिन हो जाता है।

मन की इस प्रकार की विचित्र दशा बनने के अनेक कारण हैं। पंचम काल का प्रभाव, उसकी स्थिति की विचित्रता तो मन को विचित्र बनाने में निमित्त हैं ही, परन्तु साथ ही इसके प्रभाव से संसार के अन्दर विचित्र-विचित्र गच्छ, विचित्र-विचित्र परिस्थितियां और विचित्र गुट भी बन रहे हैं। उनमें मनुष्य का मन उलझ जाता है और वह सही मार्ग से ध्यान हटा कर दूसरी ओर लग जाता है । इसीलिये कवि का कथन है कि—

'गच्छना भेद बहु नयण निहारतां, तत्त्वनी बात करतां न लाजे ।'

जहां अलग-अलग पार्टियां हों, अलग-अलग व्यक्तियों के गुट हों, अलग-अलग स्थिति से चिंतन हो और अलग-अलग भावना से स्वार्थ

पोषण हो, इस प्रकार का वातावरण जब कुछ इन्सानों में चलता हो तो व्यक्ति का मन दूषित हुए बिना नहीं रहता है। व्यक्ति सोचता है कि मैं अमुक गच्छ या अमुक गुट के साथ अमुक तरीके से बंध कर चलूंगा तो मुझे बड़ी भारी सफलता मिलेगी। मैं दुनिया में प्रसिद्ध हो सकूंगा। दुनिया मेरे पीछे भागेगी और मैं अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकूंगा। इस प्रकार की भावना जिस मानस में चलती है तो वह मानस भले ही तत्वों की बातें करता हो, ऊपरी दृष्टि से वह कितना ही चिंतक कहलाता हो परन्तु जब उसके अन्दर स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति रहती है, जब वह इस गच्छ या उस गुट के साथ गाढ़े तरीके से बंध जाता है, तब वह प्रभु की साधना का चिन्तन करने वाला नहीं रहता है।

संकेत है कि—'तत्त्वनी बात करतां न लाजै।' जो व्यक्ति इस प्रकार के तुच्छ स्वार्थ के पीछे अपने मन को कुंठित बना कर गुटबाजी की अवस्था में लुब्ध होता है और साथ ही आध्यात्मिक तत्त्व की बातें भी करता है तो वे बातें उसे शोभा नहीं देती हैं। इसलिये संकेत किया गया है कि वह लजाता नहीं है।

ऐसे व्यक्ति तात्त्विक बातें करके अपना उदर-पोषण करते फिरते हैं। साधारण जनता के सामने तो वे कहते हैं कि हम अध्यात्मवादी हैं, हम आत्मधर्मी हैं, हम आतमसाधना के अतिरिक्त और कुछ भी बात नहीं करते हैं, परन्तु उनके जीवन की स्थिति देखी जाए, उनके वर्ताव को देखा जाए तो आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से शून्यता ही मिलेगी। वहां बौद्धिक दृष्टि से कथन तो अवश्य है, परन्तु आत्मा में विपरीत पुद्गलों का प्रवेश है। रहने के लिये बढ़िया बंगला चाहिये, सोने के लिये गादी-तकिए चाहिए, भोजन में मिष्टान्न चाहिये और आने-जाने के लिये हजारों रुपयों की मोटर चाहिये। ऐसी अनेक प्रकार की सुख-सुविधा की बातें जिनके आचरण में हों, जिनका व्यवहार इस प्रकार का पुद्गलानन्दी हो और फिर वे आत्म-तत्त्व की बातें करें कि हमारे समान आध्यात्मिक जीवन का ज्ञाता कोई नहीं है तो वे अपने मन में आध्यात्मिक जीवन की

कल्पना भले ही कर लें, परन्तु वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है ।

वे ऐसा करते हैं तो दुनिया के लोग कह सकते हैं कि जब तू संसार के परिवार को लेकर चल रहा है, मोह को लेकर चल रहा है तो तू त्यागी नहीं है। तू आत्मा की साधना में नहीं, मोह की साधना में लगा है। जैसे हम संसार का कार्य करते हैं वैसे ही तू भी कर रहा है। ऐसी कठिन हालत में निभने की स्थिति नहीं रहती है तो वह सोचता है–'दुनिया ठगना मक्कर से, रोटी खाना शक्कर से।' दुनिया को भुलावे में डालने के लिये आध्यात्मिक तत्त्व की बातें करते रहें, आध्यात्मिकता की पुस्तकें निकालते रहें तो दुनिया कहेगी कि बड़े आध्यात्मिक ज्ञानी आ गये हैं। इसकी आड़ में पांचों इन्द्रियों के भोगों को भोगते रहो। कलिकाल में जो इस प्रकार रहते हैं, उन्हें तात्त्विक बातें कहते लज्जा आनी चाहिये। ऐसे व्यक्तियों के लिये संकेत है कि वे मोह के बंधन में पड़े हुए हैं और बनावटी बातें करते हैं। इसीलिए कवि ने उनको फटकारा है कि उन्हें लज्जा आनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार की बातें कहना तो 'वदतो व्याघातः' है। इसका मतलब है कि वाणी के उच्चारण के साथ ही साथ उसके उच्चारण का स्वयं खंडन हो जाता है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति कहे कि मेरी मां वांझ है, यानि संतान वाली नहीं है तो फिर वह उसकी मां कैसे हो गई? इस प्रकार उस व्यक्ति के कथन से ही उसका खण्डन हो जाता है। वैसे ही आध्यात्मिकता की बातें ऊंची हैं, खरी हैं, परन्तु यदि जीवन में परिग्रह है, व्यसनों में आसक्ति है तो वह जीवन स्पष्ट बतलाता है कि आध्यात्मिक जीवन की बातें सिर्फ वचनों तक ही सीमित हैं। मन में भौतिक लालसा है और उसकी पूर्ति के लिये सुख के साधनों की सामग्री जुटाई जा रही है।

शरीर और आत्मा वर्तमान पर्याय की दृष्टि से दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं। आत्मा के बिना बेचारा शरीर क्या कर सकता है? आत्मा-रहित शरीर जड़ है। यदि शरीर ही कुछ करता है तो आत्मा के

निकल जाने के बाद क्या मुर्दा शरीर कहेगा कि मुझे बढ़िया मोटर चाहिये, बढ़िया मिष्टान्न चाहिये, गादी-तकिये चाहिये ? मुर्दा शरीर तो कुछ नहीं कहता है ।

जिस व्यक्ति को आध्यात्मिक ज्ञान है, जो अनन्तनाथ प्रभु की चरण-सेवा का मर्म समझ गया है, वह कभी नहीं कहेगा कि मुझे मिष्टान्न चाहिये, गादी-तकिये चाहिये या मोटर चाहिये । वह तो साधना में जीवन बितायेगा । वह शरीर पर ममत्व नहीं रखेगा, वह किसी वाहन का अवलंबन नहीं लेगा । उसका जीवन समभाव से चलेगा । खाने को जो कुछ मिलेगा, उसे वह स्वाभाविक तौर पर ले लेगा, चाहे उसे भूगड़े मिलें या उड़द के बाकले । रूक्ष अथवा सरस आहार मिलता है तो क्या ? वह तो समभाव से सोचेगा कि मुझे तो शरीर को भाड़ा देना है, सो दे दूं । इस प्रकार का आचरण जिन मानवों का है, वे आध्यात्मिक जीवन की तात्त्विक बातें करें तो फिर भी योग्य है परन्तु जिनके जीवन में आचरण नहीं है, वे तो सिर्फ बातों की उड़ानें भर रहे हैं ।

बंधुओ ! आध्यात्मिक जीवन की जो तीक्ष्ण धार है, उस पर चलना अति कठिन है । वह सहज नहीं है । उस पर चलने वाले प्राणी बड़ी विचक्षणता से चलते हैं । एक क्षण के लिये भी अशुभ योग रूप प्रमाद आया कि इतने में ही पांचों इन्द्रियों के विषयों ने प्रवेश पा लिया । आसक्ति आ गई तो तलवार की धार के नीचे गर्दन चली जायेगी । बड़े-बड़े योगी, जिन्होंने सर्वस्व का त्याग किया, वे भी प्रसंग आने पर फिसल गये ।

अरिष्टनेमि के लघु भ्राता रथनेमि संसार का त्याग करके एक गुफा में आध्यात्मिक साधना में बैठे थे । परन्तु वहां भी उनके डिगने का प्रसंग आ गया । आंधी और तूफान के साथ पानी बरसने लगा । सती राजिमती नेमिनाथ भगवान के दर्शन करने के लिये जा रही थीं । बरसात में भीगते हुए उन्होंने उस गुफा में प्रवेश किया । सती सोचने लगी कि इसमें कौन रह सकता है ? उन्होंने बाहर के प्रकाश में से अंधकार में प्रवेश किया था । जब व्यक्ति सहसा प्रकाश से अंधेरे में प्रवेश करता

है तो उसे जल्दी ही कुछ दिखलाई नहीं देता है। वहां सती अपने वस्त्रों को अलग करके सुखाने में तत्पर हुई। वस्त्र सुखाने में कुछ समय लगा। इधर गुफा में बैठने वाले रथनेमि ने, जो अपनी आध्यात्मिक साधना में तन्मय थे, राजिमती को देख कर अपने मन के संकल्प बिगाड़े और आध्यात्मिक धारा से नीचे उतर कर मलिन भावना अभिव्यक्त करने लगे। परन्तु सती तेजोमयी थी और प्रभु के मार्ग को समझने वाली थी। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी वह तलवार की धार (संयम) पर अखंड रूप से चलने वाली थी। रथनेमि को फिसलते देख कर उस सती ने बोध देना ही उपयुक्त समझा और इस प्रकार फटकार लगाई —

धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥

उत्तरा. अ. २२ श्लोक ४३

अरे ! धिक्कार है तुझे अपयश के कामी। तू आत्मिक साधना के लिये साधु बना और आत्मबल साधने के लिये गुफा में बैठा, परन्तु यहां बैठे-बैठे भी उस साधना से भ्रष्ट होने की स्थिति में चल रहा है। ऐसे जीवन को धिक्कार है। इससे तो मरण ही श्रेयस्कर है।

सती के ऐसे जोशीले वचन आध्यात्मिक धारा पर चलने के कारण ही तीक्ष्ण थे। वे किसी के दिल पर चोट पहुंचाने के लिये नहीं थे। वे तीक्ष्ण वचन तो मोह-जाल को काटने के लिये थे। रथनेमि के मन पर उन वचनों का प्रभाव पड़ा और वह ठिकाने आ गया।

तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक साधना इतनी सहज नहीं है, जैसा कि लोग सोच लेते हैं। यह बातों से नहीं, आचरण से आती है। आत्मा के असंख्य प्रदेश शरीर में व्याप्त हैं और शरीर में रहे हुए हैं। आत्मा में आध्यात्मिक जागृति है तो वह प्रत्येक प्रदेश में आयेगी, शरीर के कण-कण में व्याप्त होगी। उसमें से आध्यात्मिकता की सुगंध निकलेगी और शरीर के प्रत्येक अवयव में से आध्यात्मिक जीवन की साधना क संयम अभिव्यक्त होगा, जैसे कि—

हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा, मुत्तत्थ च विआणइ जे स भिक्खू ॥
(दस० सूत्र, अध्य. १०, गाथा १५)

जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है अर्थात् हाथ-पैर आदि अवयवों को कछुवे की तरह संकोच कर रखता है और आवश्यकता पड़ने पर यतनापूर्वक कार्य करता है, जो वचन से संयत है अर्थात् किसी को सावद्य परपीड़ाकारी वचन नहीं कहता, जो सब इन्द्रियों को वश में रखता है, अध्यात्मरस में एवं धर्मध्यान शुक्लध्यान में रत रहता है, जो संयम में अपनी आत्मा को समाधिवत् रखता है, जो सूत्रों और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु कहा जाता है । इस प्रकार की साधना करने वाले अनन्तनाथ भगवान की सेवा कर सकते हैं ।

बंधुओ ! इस आध्यात्मिक साधना के विषय में आप भी अपने जीवन के धरातल का अवलोकन करें । आज पंचम काल में मानव की जो दुर्दशा है, दयनीय दशा है, उससे अपने आपकी रक्षा करना सहज नहीं है । जब मानव स्वयं के जीवन को नहीं संभाल सकता है तो उसे दूसरे का अवलंबन लेना पड़ता है । परन्तु उसमें आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा हो, संरक्षण हो, एक दूसरे की हमदर्दी हो, संयम की जागरूकता हो, व्यक्ति एक दूसरे को समझता हो और अपने जीवन की स्थिति को लेकर चलता हो तो दूसरों से सहायता मिलती है । इसमें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र प्रधान हैं । इस पंचम काल में ये आवश्यक हैं । इनके बिना व्यक्ति कमजोर बन जाता है तो फिर उठ नहीं पाता है । यह स्थिति पूर्व-काल में रही होगी, वर्तमान में यह संभव है और भविष्य में भी रह सकती है ।

तीर्थंकरों ने जब चार तीर्थों की स्थापना की तो यह तथ्य सामने आया कि पंचम काल में जन्म लेने वाला व्यक्ति अकेला साधना करने में समर्थ नहीं हो सकता है । व्यक्ति का अकेला रहना ठीक नहीं है, क्योंकि न जाने कब विकार झपट्टा मार दे और आध्यात्मिक जीवन से फिसल

जायें। यदि दूसरा साथी है तो उसको वह संभाल सकता है, गिरते हुए को रोक सकता है, उसकी रक्षा कर सकता है। इसीलिये चतुर्विध संघ में जहां साधु-साध्वियों का प्रसंग है तो वहां आज्ञा है कि साधु दो से कम और साध्वी तीन से कम नहीं रहें। वे एक दूसरे की दृष्टि में रहें। यह नहीं कि एक साधु ऊपर की मंजिल में सोता है और एक नीचे की मंजिल में सोता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। वे एक-दूसरे की दृष्टि में रह कर चलें, जिससे कि किसी समय यदि किसी साधक की भावना आध्यात्मिकता से विचलित होती हो तो दूसरा उसे संभाल सके अथवा दूसरे को देख कर स्वयं संभल सके।

आजकल संघों की जो स्थिति चल रही है, वह आध्यात्मिक जीवन के लिये हितावह नहीं है। जो संघ (समूह) चलता है, वह ऐसा नहीं होना चाहिये कि उसके दुर्गुणों को हटाया नहीं जाये और सद्गुणों की कद्र न की जाये। वह कोई संघ नहीं, समूह नहीं, जिसमें आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा न हो। जिस संघ में व्यक्तियों के दुर्गुणों को हटाया जाये, आध्यात्मिक असंयम को हटाया जाये, संयम को बढ़ाया जाये, ऐसा संघ हर एक व्यक्ति की रक्षा करने में सक्षम है। उसके साथ चला जाये तो नैतिकता का मार्ग बन सकता है। नैतिक जीवन का रक्षण भी एक-दूसरे के सहयोग पर टिका हुआ है। चाहे वह गृहस्थ में हो, भाई या बहिन कोई हो, उसके संरक्षण के लिये परिवार का सहयोग अपेक्षित है। समाज ठीक है तो राष्ट्र का रास्ता ठीक है और राष्ट्र ठीक है तो विश्व का रास्ता ठीक है। इस अवस्था से चिन्तन करेंगे तो पूर्व का इतिहास भी साक्षी देगा। जब पूर्व का इतिहास सामने आता है तो यह विषय स्पष्ट ध्वनित होता है। आज प्रसंग आया है तो इसी बात का द्योतन करने के लिये उसे याद किया जाता है।

बंधुओ! आज रक्षाबंधन का पर्व है। बहिनें भाइयों के राखी बांधती हैं। परन्तु भाई भी वापिस बहिनों के राखी बांधते हैं क्या? बहिन, अपने भाई के राखी क्यों बांधती है? आप राखी तो बंधाते ही

होंगे। बहिन राखी बांधने को आती है तो वह धागा नहीं बांधती है परन्तु कर्तव्य का बोध कराती है। वह कहती है—'भाई, मैं इस संसार में सहायता की अपेक्षा रखती हूं। समय आने पर मेरी विकट स्थिति भी आ सकती है। उस समय तुम्हारी मदद चाहिये। इसीलिये मैं अपनी रक्षा हेतु तुम्हारे राखी बांधती हूं।" इसी भावना से राखी बांधी जाती है और इसी भावना से राखी बंधाई जाती है तो एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व राखी बंधाने वाले पर आ जाता है। परन्तु इस भावना का स्वरूप तो कोई-कोई ही समझते होंगे। बहिन ने राखी बांध दी। दो-चार रुपये उसे दे दिए। पोशाक दे दी। बस, इतने में ही कर्तव्य पूरा समझ लिया जाता है।

यदि किसी समय बहिन संकट में पड़ जाती है तो क्या भाई अपने जीवन की बाजी लगा कर भी उस बहिन की रक्षा करता है ? कई भाई, यदि बहिन अच्छी स्थिति में है तो राखी बंधवा लेंगे और यदि वह दयनीय दशा में है तो संभव है कि वे राखी बंधायें भी नहीं। यदि बंधवाते हैं तो उदासीन भावना से बंधवा लेते हैं। पैसे वाली बहिन को अधिक पैसे दिये जाते हैं और जो बहिन कमजोर स्थिति में है, उसे थोड़े पैसे देकर ही विदा कर देते हैं।

इस ऐतिहासिक प्रसंग को कैसे मनाया जाये ? इसके पीछे क्या गूढ़ रहस्य भरा हुआ है ? आदि प्रश्न विचारणीय हैं। इस त्यौहार के प्रसंग को देखते हैं तो वहां आध्यात्यिक जीवन के दर्शन होते हैं। इस विषय में एक प्राचीन कथा है—

अकंपन नाम के आचार्य आध्यात्मिकता के बहुत बड़े ज्ञाता थे। वे ज्ञाता ही नहीं थे, परन्तु इसे अन्तर्मन में ओत-प्रोत करके जीवन में धारण करने वाले भी थे। एक बार संयम के साथ चलने वाले सात सौ शिष्यों के परिवार-सहित वे एक बगीचे में पधारे। वहां के महाराजा बड़े प्रतापी और आध्यात्मिक जीवन के प्रेमी थे, साथ ही वे सत्संगी भी थे। जब महाराजा के कानों में आचार्यश्री के आगमन की बात पहुंची तो उन्होंने सोचा कि आचार्यश्री अपने शिष्य-परिवार सहित बगीचे में

पधारे हैं। अतः पहले उनके दर्शन करना है, व्याख्यान श्रवण करना है, जीवन को साधना में लगाना है। ये राजकीय कार्य तो हर रोज ही चलते रहते हैं परन्तु यह अवसर तो कभी-कभी ही आता है।

महाराजा ने अपने प्रधान नमुचि तथा अन्य कर्मचारियों के समक्ष अपने विचार रखे। जो कर्मचारी आध्यात्मिकता में रस लेने वाले थे, वे परम प्रसन्न हुए। परन्तु उनमें प्रमुख रूप से काम करने वाला प्रधान नास्तिक विचारों का था। उसने सोचा कि अकंपन नाम के आचार्य यहां पधारे हैं। यदि महाराजा ने उनके आध्यात्मिक वचनों को श्रवण कर लिया तो उनकी आध्यात्मिक भावना और भी गहरी हो जायेगी और फिर मैं अपने मनमाने तरीके से भौतिकवाद का प्रचार व प्रसार नहीं कर सकूंगा।

महाराजा ने प्रधान से कहा कि आचार्यश्री अकंपन पधारे हैं, अतः उनका उपदेश सुनने का लाभ प्राप्त करना चाहिये। बगीचे में चलें और आचार्यश्री के दर्शन करें। इस पर प्रधान ने उत्तर दिया, "राजन्! ऐसे रुंड-मुंड व्यक्तियों के पास जाकर आप क्या करेंगे?" महाराजा ने कहा, "प्रधानजी, आप क्या कहते हैं? ये बहुत बड़े महात्मा हैं। इनके समीप जाने से चित्त को बहुत शांति मिलेगी।"

प्रधान संभल गया। उसने सोचा कि महाराजा की उनमें प्रगाढ़ श्रद्धा है। अतः वह बोला, "राजन्! आप जैसा कहते हैं, वे वैसे ही हैं। परन्तु क्या वे मेरे प्रश्नों का उत्तर दे देंगे?"

प्रधान ने अपने मन में सोचा कि मैं उनके समक्ष अंटसंट प्रश्न रखूंगा, जिनका उत्तर वे अपने शिष्यों के सामने नहीं दे पायेंगे। उस समय मैं महाराजा से कहूंगा कि आप मुझे किनके पास ले आये? इस प्रकार मन में कूटनीति रख कर प्रधान ने कहा, "अच्छा महाराज! मैं चलता हूं।"

अकंपन आचार्य विशिष्ट ज्ञाता थे। उन्होंने अपने अन्तर्ज्ञान से पता लगा लिया कि महाराजा अपने जिस प्रधान के साथ आ रहे हैं, वह नास्तिक है। वह जिज्ञासा से नहीं, परन्तु विजिगीषा (विजय की इच्छा)

से आ रहा है। वह दूसरा ही वातावरण बनाना चाहता है। इसलिए अकंपन आचार्य ने अपने सभी शिष्यों से कहा कि महाराजा तथा प्रधान आएं तब सब मौन रखें। सबने यह आज्ञा शिरोधार्य कर ली।

प्रधानजी महाराजा के साथ आचार्यश्री के समीप पहुँचे और वहां जाकर प्रश्नों की झड़ी लगा दी। सब संत मौन-व्रत में थे। अतः उन्हें कुछ भी उत्तर नहीं मिला। महाराजा उनके मौन-व्रत की आकृति देख कर बहुत प्रसन्न हुए। त्यागी की छाप हर एक व्यक्ति के ऊपर पड़े बिना नहीं रहती है। उनका प्रभाव भव्य था। इस प्रकार महाराजा तो आध्यात्मिकता से प्रभावित हो गये परन्तु प्रधान जब कुतर्क करने लगा और उसे कोई उत्तर नहीं मिला तो वह बोला, "राजन् ! आप कह रहे थे कि ये बहुत बड़े ज्ञानी हैं, परन्तु ये तो मौन-व्रत लेकर बैठे हैं।" महाराजा ने कहा, "ये विशिष्ट साधना में हैं, अतः मौन-धारण कर रखा है।" इसके बाद वे लौट चले।

संयोग की बात है कि उस समय आचार्यश्री का एक शिष्य भिक्षा के लिये नगर में गया हुआ था, जिसे गुरुवर की आज्ञा की जानकारी नहीं थी। भिक्षा लेकर जैसे ही वह उस रास्ते से आ रहा था तो सामने से प्रधान जी मजाक उड़ाते हुए आ गये। सड़क के किनारे एक वृक्ष के नीचे प्रधान जी ने उसको रोक लिया और प्रश्न कर बैठे। भिक्षा लेकर आने वाले मुनि ने इस ढंग से उत्तर दिया कि प्रधान जी बौद्धिक दृष्टि से परास्त हो गये।

प्रधान ने विचार किया कि मैं साथियों के साथ रहता हूं और इनसे सम्मान प्राप्त करता हूं। परन्तु इस छोटे मुनि ने इन सबके सामने मेरा मुंह बंद कर दिया। अतः साथियों के सामने मेरी इज्जत गिर गई। अवसर आने पर इसकी खबर लेनी है। ऐसा विचार करता हुआ वह राजधानी में पहुँचा और अपनी झूठी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए मुनियों के विरुद्ध षडयंत्र रचने लगा।

मुनि ने आचार्यश्री के समीप पहुंच कर मार्ग में हुई घटना की

जानकारी दी तो ग्राचार्यश्री ने कहा कि तुमको प्रधान जी से बात नहीं करनी चाहिये थी। शिष्य ने कहा, "गुरुदेव ! मुझे पता नहीं था।" ग्राचार्यश्री ने कहा, "खैर, जो हो गया, सो हो गया। परन्तु ग्राज रात को उसी वृक्ष के नीचे जाकर ध्यान करो। यदि उपसर्ग ग्राये तो ग्राध्यात्मिक जीवन में मजबूत रहना।" वह शिष्य ग्राज्ञाकारी था। ग्रतः गुरु की ग्राज्ञानुसार समय पर वह उसी वृक्ष के नीचे जाकर ध्यान में लीन हो गया।

रात्रि में प्रधान जी ग्रपने सैनिकों के साथ उसी रास्ते से जा रहे थे। उनके हाथों में नंगी तलवारें थीं। जब वे उस वृक्ष के नीचे से निकले तो उन्होंने मुनि को ध्यानावस्था में देखा ग्रौर देखते ही कहा कि इसी मुनि ने मुझे परास्त किया है। सब साथियों ने मुनि के चारों तरफ घेरा डाल दिया ग्रौर तलवारें ऊपर उठा लीं। प्रधान ने कहा, "इसके ऊपर सब एक साथ तलवारों से वार करो।"

वार करने के लिये तलवारें उठाई गईं परन्तु वे ऊपर ही उठी रह गईं, नीचे न गिर सकीं। सारी रात यों ही बीत गई। प्रातः काल का समय हुग्रा तो लोगों ने देखा कि यह क्या मामला है ? ग्ररे ! प्रधान जी एक मुनि के ऊपर तलवार उठाये खड़े हैं। इतने में ही महाराजा भी ग्रपने सैनिकों सहित वहां ग्रा गये। उन्होंने देखा कि प्रधान जी ग्रादि के हाथ तलवारों-सहित ऊपर उठे हुए हैं ग्रौर पैर जमीन पर चिपके हुए हैं। प्रधान जी की इस दुर्नीति को देख कर उन्होंने उनको बहुत फटकारा।

समय पर मुनि ने ध्यान खोला ग्रौर ज्यों ही गुरु की तरफ चलने को पैर उठाये कि उन सब के हाथ-पैर भी खुल गये। वे कुछ भी नहीं कर पाये। महाराजा ने प्रधान के कृत्यों की भर्त्सना करते हुए उन सब को देश-निकाला दे दिया।

प्रधान ग्रपमानित होकर एक चक्रवर्ती राजा के यहां पहुँचा। उसमें बौद्धिक कला थी, चतुराई थी। ग्रतः उसने ग्रपनी चतुराई से ऐसा

कार्य करके दिखलाया कि चक्रवर्ती महाराजा उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसे वरदान देने का प्रण कर लिया। प्रधान ने कहा, "महाराज, इस वरदान को भंडार में ही रहने दीजिये। जब आवश्यकता होगी, मैं मांग लूंगा।

कुछ समय बाद जब प्रधान को मालूम हुआ कि वही अकंपन आचार्य यहां आ गये हैं तो उसने सोचा कि वहां मेरा तिरस्कार हुआ था, परन्तु यहां मैंने चक्रवर्ती से वरदान ले रखा है। अतः चक्रवर्ती को यह ज्ञात न हो कि मुनिराज यहां आये हैं, इससे पहले ही मैं उनसे वरदान मांग लूं। ऐसा सोच कर उसने चक्रवर्ती महाराजा से अपना वरदान मांगा—"महाराज, सात रोज के लिये मैं चक्रवर्ती बनना चाहता हूं। अतः इस अवधि में मेरी नीति में और व्यवहार में आप किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करें।" महाराजा वचनबद्ध थे। अतः उन्होंने प्रधान जी को सात दिन के लिये राज-सिंहासन सौंप दिया और स्वयं अन्तःपुर में चले गये।

प्रधान ने दुर्नीति का प्रयोग करने के विचार से वहां ऐसा प्रसंग उपस्थित किया, जिससे कि सातवें रोज उन मुनियों को खत्म किया जा सके। उसने छः ही खंडों में आज्ञा दे दी कि इस प्रकार के साधु-साध्वियों आदि को इस चक्रवर्ती-राज्य में रहने की आवश्यकता नहीं है। ये लोग सात दिन में यहां से चले जायें। यदि चले जाते हैं तो ठीक है, नहीं तो उन्हें उठा कर समुद्र में फिकवा दिया जाएगा अथवा अग्नि में जलवा दिया जाएगा।

इस प्रकार की राजाज्ञा से छः खंडों में तहलका मच गया। अब जायें कहां? उसके बाहर तो समुद्र है। क्या उसमें जाकर गिरें? इस प्रकार चतुर्विध संघ पर बहुत बड़ी आपत्ति और निर्ग्रन्थों के हनन होने की स्थिति का प्रसंग आ गया।

गुरुदेव रात्रि के समय स्वाध्याय कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि आकाश में श्रवण नक्षत्र कंपायमान हो रहा है। उस नक्षत्र को

कांपते देख कर उन्होंने निश्चय किया कि आज छहों खण्डों में रहने वाला चतुर्विध संघ खतेरे में है । इसलिये उनके मुंह से सहसा निकल पड़ा कि—"अहो कष्टम्, अहो कष्टम् !"

उस समय उनका एक शिष्य एक गुफा में साधना में बैठा हुआ था । उसने देखा कि गुरुदेव पर कोई आपत्ति आ गई है । अतः वह बाहर आया और बोला, "गुरुदेव, क्या कष्ट है ?" आचार्यश्री ने परिस्थिति समझाते हुए कहा, "आज सूर्योदय होते ही यदि नमुचि नाम के प्रधान को नहीं समझाया गया तो बहुत बड़ा अनर्थ होने वाला है। चतुर्विध संघ खतरे में है । उसका संरक्षण करना अत्यावश्यक है । परन्तु अब कौन संरक्षण करेगा ? राजा चक्रवर्ती तो उसको राज्य सौंप कर अन्तःपुर में चला गया है। फिर भी एक उपाय अवश्य है कि उसके छोटे भाई पहाड़ की गुफा में ध्यान करके बैठे हुए हैं । उनका नाम विष्णु मुनि है। वे चाहें तो सबको बचा सकते हैं। परन्तु उनके पास यह समाचार पहुँचाये कौन ?"

शिष्य ने निवेदन किया—"गुरुवर ! यदि ऐसा प्रसंग है तो मैं अपनी लब्धि के जरिये वहां जा सकता हूं । आपकी आज्ञा हो तो मैं वहां जाऊं ।" आचार्य ने कहा, "जाओ और उन्हें शीघ्र सूचना दो ।"

वह शिष्य लब्धि से विष्णुकुमार मुनि के पास जा पहुँचा और सब स्थिति उन्हें समझा दी । विष्णु मुनि वैक्रिय लब्धि-धारक थे । वे उसकी शक्ति से राज्य में पहुँचे और अपने चक्रवर्ती भाई से जाकर मिले। वे कहने लगे, "आपने यह क्या कर दिया ? किसके हाथ में सत्ता सौंप दी ? आध्यात्मिक जीवन पर आघात हो रहा है । सर्वस्व-त्यागियों का हनन होने का प्रसंग है।" यह सुन कर चक्रवर्ती महाराजा ने कहा, "भाई, मैं क्या कर सकता हूं ? मुझे पता नहीं था कि यह व्यक्ति इस प्रकार की दुष्टता करेगा । मैं तो सात दिन तक इसको कुछ नहीं कह सकता । तुम जैसा चाहो, वैसा कर सकते हो ।"

विष्णु मुनि ने अपनी वैक्रिय-शक्ति से शरीर का परिवर्तन किया।

वे बावना शरीर बना कर नमुचि के पास गये और उससे कहने लगे, "आप चक्रवर्ती सम्राट के पद पर हैं तो इस अवसर पर आपको दान भी करना चाहिये।" प्रधान ने तत्काल उत्तर दिया, "कहिए, आप क्या चाहते हैं?" बावने ने कहा, "मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो बस साढ़े तीन पैंड जमीन चाहता हूं।" प्रधान ने हंसते हुए कहा—"तथास्तु।"

जमीन एकदम ही थोड़ी मांगी गई थी, परन्तु विष्णुकुमार ने अपना विराट रूप बना कर तीन पैंड में छहों खण्डों के राज्य को नाप लिया। फिर आधा पैंड बच रहा तो नमुचि ने सोचा—अब क्या करूं? वह वामन के चरणों में गिर गया। इस प्रकार उसका हृदय बदल गया और चतुर्विध संघ की रक्षा हुई। ऐसे प्रसंग से रक्षा-बंधन का प्रारम्भ माना जाता है।

लगभग इसी प्रकार का एक प्रसंग पुराणों में भी है। दैत्यों का राजा बलि जब यज्ञादिक प्रक्रियाओं से अपना प्रभाव बढ़ा रहा था तो देवों को खतरा पैदा हो गया। देव अपनी रक्षा में विफल हुए तो विष्णु भगवान् के पास पहुंचे और कहने लगे, "भगवन्! आप हमारी रक्षा कीजिये।"

उस समय विष्णु भगवान के वामन रूप बनाया और राजा बलि से जाकर बोले, "राजन्! यज्ञ करके स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हो तो दान भी देना चाहिये। बलि राजा ने सोचा कि एक छोटा-सा व्यक्ति दान मांग रहा है तो उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो? वामन ने कहा मुझे तो सिर्फ साढ़े तीन पैंड धरती चाहिये। राजा बलि ने तत्काल 'तथास्तु' कह कर उसकी बात मान ली।

वामन ने विराट रूप धारण किया और तीन पैंड में सम्पूर्ण विश्व को नाप लिया। फिर वे कहने लगे, "अब आधा पैर कहां रखूं?" ऐसा कहते हुए उन्होंने उस पैर को राजा बलि के सिर पर रख दिया, जिससे वह पाताल लोक में चला गया।

यहां कथा-भाग की दृष्टि से कथा को न पकड़ें परन्तु इससे रक्षा त्यौंहार का प्रचलन कैसे हुआ, यह समझें। देवों की प्रकृति को आध्यात्मिक स्थिति में समझें और राक्षसी-प्रकृति का अभिप्राय राक्षसों से लें।

इसी प्रकार रक्षा की दृष्टि से इतिहास के पृष्ठ पढ़ें। चित्तौड़ पर गुजरात के बादशाह ने आक्रमण किया तो परिस्थितिवश मेवाड़ की महारानी ने दिल्ली के मुगल बादशाह हुमायूं के पास राखी भेजी। उस समय हुमायूं बंगदेश की विजय के लिये जाने वाला था परन्तु महारानी की राखी पाकर वह विजय-अभियान छोड़ कर महारानी की रक्षा हेतु चित्तौड़ की ओर चल पड़ा। यद्यपि वह मुसलमान था परन्तु रक्षाबंधन का महत्त्व उसके भी दिमाग में था।

बंधुओ ! इस प्रकार रक्षाबंधन के कतिपय प्रसंगों को आपने सुना। परन्तु आज का मनुष्य क्या कर रहा है ? वह रक्षा की कैसी भावना कर रहा है ? आज तो तरीका ही बदल गया है। प्रायः करके कुछ ब्राह्मण लोग राखी बांधने को आ जायेंगे और आप राखी बंधा लेंगे। इसी प्रकार बहनों से भी राखी बंधा लेंगे और कुछ दक्षिणा दे देंगे। आप इतने मात्र से ही कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। परन्तु आपने कभी रक्षा की जिम्मेवारी भी महसूस की या नहीं ? यदि इस रक्षा-पर्व की भावना से इस ऐतिहासिक प्रसंग को लिया जाए तो आज समाज की जो विचित्र दशा है, वह रुक सकती है।

बंधुओ ! जगत् के लिये सुखकारी और देवों को भी दुर्लभ इस सुन्दर मानव-जीवन में व्यक्ति केवल धागे तक ही सीमित नहीं रहे, परंतु अपने कर्तव्य को संभाले। रक्षा-बंधन के दिन अपने कर्तव्य पर ध्यान देना है कि किस-किस की जिम्मेवारी ली गई है और किस तरह से उसका पालन कर रहे हैं। जो ऐसा नहीं कर रहे हैं, वे इस रक्षा-बंधन त्यौंहार को मनाने के अधिकारी नहीं हैं। भाई ने बहिन की जिम्मेवारी ली है तो वह उसकी रक्षा का खयाल रखे। रक्षा-बंधन कर्तव्य-पालन का बोध कराता है।

ऐसा भी रिवाज है कि कई व्यक्ति कांटा (तराजू) आदि पर भी रक्षा-सूत्र बांधते हैं। इन पर राखी क्यों बांधते हैं? इसका उद्देश्य है कि यह सुरक्षित रहे। परन्तु व्यापार के ये साधन तभी सुरक्षित रह सकेंगे, जब वे व्यक्ति ईमानदारी से अपना व्यापार करेंगे।

ऐसे अनेक साधनों के साथ तो रक्षा-सूत्र बांधने का प्रसंग उपस्थित होता है, परन्तु जीवन के साथ रक्षा-सूत्र बांधने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो रहा है। जीवन में रक्षा-सूत्र बांधने के प्रसंग को आध्यात्मिक दृष्टि से निभाने की कोशिश करें।

प्रश्न उठता है – क्या मैं भी आप लोगों के राखी बांधूं? आप सोचेंगे—"महाराज, आप तो साधु बन गये। आप क्या राखी बांधेंगे?" हम साधु हैं। हमारे पास धागे का रूप नहीं है। हम तो अपने साधु-जीवन की स्थिति से आप लोगों के साधना का धागा बांधना चाहते हैं। आप इसे बंधाने की तैयारी करें और बंधायें।

साधना का धागा क्या है? साधु और साध्वी-वर्ग अपनी आध्यात्मिक साधना में चल रहे हैं। श्रावक-श्राविका को 'अम्मा पिया' (माता-पिता) की उपमा दी गई है। अतः साधना का धागा यह है कि श्रावक एवं श्राविका, माता-पिता बन कर साधु-साध्वी-वर्ग की रक्षा करने का उत्तरदायित्व संभालें।

आप सोचते हैं कि हम क्या रक्षा कर सकते हैं? आपको भिक्षा दे देंगे और कभी बीमार होंगे तो औषधि दिलवा कर ठीक करवा देंगे। परन्तु आप भोजन और औषधि से शरीर की रक्षा तक ही सीमित नहीं रहें। यदि आप संतों से राखी बंधवाना चाहते हैं तो भगवान महावीर या तीर्थंकरों की संस्कृति को सुरक्षित रखने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लें। संत-जीवन की रक्षा करें। संत-जीवन की जो मर्यादा शास्त्रों में वर्णित है, उसकी सुरक्षा में आप मददगार बनें। संत अपनी सीमा में कार्य करें और आप अपनी सीमा में रहते हुए अपने कर्तव्यों का ध्यान रखें। आप संतों को अपने नियमों से डिगाने की कोशिश कभी नहीं करें।

आपके दिमाग में यह खयाल भी आ सकता है और आप कह सकते हैं कि महाराज ! जमाना बदल गया है, अब आप भी बदल जाओ और नियम तथा महाव्रतों में परिवर्तन कर लो ।

यदि आप इस तरह साधु और साध्वी-वर्ग की मर्यादा को बदलने के लिए तैयार हो गये तो आप उनके माता-पिता की उपमा को धारण नहीं कर सकते हैं । माता-पिता का कर्तव्य है कि पुत्र या पुत्री कभी खतरे में पड़े तो उसकी रक्षा की जाये ।

आप संत और सतियों की तारीफ करते हुए नहीं चूकते हैं और लंबे-लंबे भजनों के साथ उनकी स्तुति कर बैठते हैं । आप ये स्तुति के आभूषण तो संतों के गले में डाल देते हैं परन्तु संतों के गले में स्तुति के जेवर डाल कर आप चुप नहीं रहें । आप ये जेवर पहना तो देते हैं परन्तु उनसे यदि संत फूल गये तो वे आभूषण घात का काम करेंगे । अतः उनकी रक्षा के लिये आपको तत्पर रहना है । यदि साधु-साध्वी तारीफ में फूल कर अपने आपको सब कुछ समझ बैठें और मर्यादा-भंग करना चाहें तो आपका कर्तव्य है कि विनय के साथ उन्हें कहें कि भगवन्* आप सावधान रहिये ।

आप आदर के साथ कहें—"भगवन् ! सावधानी रखिये । आपने संसार का परित्याग किया है । आप आध्यात्मिक जीवन के साथ तन्मय होकर चल रहे हैं । आप पवित्रता के प्रतीक हैं । यदि आप पवित्र रहेंगे तो हमको उज्ज्वलतम उपदेश मिलेगा । आप महाव्रतों को तोड़ देंगे तो आपका स्वयं का जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा और फिर आप हमको क्या उपदेश देंगे ? आप स्वयं अनैतिक जीवन को अपना लेते हैं और फिर उपदेश देते हैं तो हमारे जीवन पर कोई असर नहीं होगा ।

---

* 'भगवन्' का मतलव यहां चारित्र-सम्पन्नता से है । शास्त्र में अणगार को भी भगवान् कहा गया है । 'स्थविर भगवान्' में 'भगवान्' शब्द विशेष शक्ति का द्योतन करवाने के लिये लगता है ।

हम अपनी सीमा में दृढ़ रहें और आप अपनी सीमा में दृढ़ रह कर कार्य करें।"

आपने ऐसी सावधानी दिला दी तो इससे संतों का मन संतुष्ट हो जाएगा। उन्हें इस प्रकार की शक्ति मिल जाये तो वे अपने आध्यात्मिक जीवन को सुरक्षित रख सकते हैं—जैसे, राजिमती ने रथनेमि को फिसलने से बचा लिया था। भाई-बहिनों का कर्तव्य है कि संत-सती-वर्ग की मर्यादा को समझते हुए तरीके से उनकी रक्षा करें और चारित्र की स्थिति से थोड़ी-सी भी त्रुटि मालूम हो तो उनका कर्तव्य है कि वे संत-सतियों को एकांत में विनय के साथ निवेदन करें कि भगवन्! यह वात कैसे है? संभव है कि कोई त्रुटि हो तो वे सरलता से स्वीकार कर लें और उसको वहीं समाप्त कर दिया जाए। परन्तु इस प्रकार उनको कहने पर भी यदि वे नहीं मानें और समाधान भी नहीं आए तो उनके जो संचालक हैं यानि आचार्य हैं, उनके पास जाकर निवेदन करें कि कर्तव्य की दृष्टि से मैंने एकान्त में ऐसा निवेदन किया था, परन्तु सुनवाई नहीं हुई है। अतः अब मैंने आपके सामने निवेदन कर दिया है। जो इस तरह से चलते हैं, वे श्रावक-श्राविका वस्तुतः चतुर्विध संघ की रक्षा करने वाले हैं। संतों से रक्षा बंधवाने का यही मतलब है कि अपनी-अपनी स्थिति में सुदृढ़ रहें।

इसके साथ ही गृहस्थ में और भी अनेक प्रकार की जिम्मेवारियां हैं, माता-पिता की जिम्मेवारी है, भाई-बहिन की जिम्मेवारी है। उनकी क्या दशा है, किस तरह उनका जीवन चल रहा है? यह सब ध्यान में रखना बहुत जरूरी है।

मैं आध्यात्मिक जीवन की रक्षा की बात कह रहा हूं। परन्तु उसकी रक्षा तभी होगी, जबकि आपका नैतिक-जीवन सुरक्षित होगा। यदि वह गिरता है तो फिर आध्यात्मिक-जीवन की सुरक्षा कहां है? अतः इस प्रसंग से कहना चाहता हूं कि आप यदि अपने आध्यात्मिक-जीवन की सुरक्षा चाहते हैं तो नैतिकता में दृढ़ रहें। अपनी हमदर्दी

हर एक पड़ौसी और हर एक व्यक्ति के साथ रखिये। इस प्रकार रक्षा-बंधन के स्वरूप को समझ कर सबके कल्याण की रक्षा का कार्य करते हुए चलेंगे तो आध्यात्मिकता से आपका जीवन मंगलमय होगा और विश्व में सुख-शांति का प्रचार होगा।



बीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण शुक्ला १५

नैतिकता-अनैतिकता

धार तलवारनी सोहली, दोहली चोदमा जिन तणी चरणसेवा ।

परमात्मा के चरणों में प्रार्थना के माध्यम से जब आत्म-निवेदन करने का प्रसंग आता है, उस समय भव्य आत्मा को अपनी शक्ति का भान होता है। साधक जब तक बाहर ही बाहर भटकता रहता है, तब तक उसे अंदर की शक्ति का ज्ञान नहीं होता परन्तु जब वह अंदर की तरफ देखता है तब जीवन में रही हुई कमजोरियों का उसे ज्ञान हो जाता है। वह परमात्मा को सम्मुख रख अर जब उच्चतम आदर्श का चिन्तन करता है तब सोचने लगता है कि मैं प्रभु की सेवा करने को तो तत्पर हो रहा हूं परन्तु मैं वह सेवा जितनी आसान समझता हूँ, वैसी नहीं है। वह बड़ी ही कठिन है। परमात्मा के चरणों की सेवा करना तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है।

अंदर की जागृति मनुष्य को परमात्मा की ओर आकर्षित करती है। परन्तु जब तक जीवन में अन्य तत्त्वों का प्रवेश है, तब तक वह परमात्मा की सेवा में लग नहीं सकता। वह अंदर की विकृत-वृत्तियों को हटाने की कोशिश करता है तो अपनी आंतरिक शक्तियों को दुर्बल पाकर सोचता है कि मैंने काफी समय तक अन्दर के जीवन को रोगग्रस्त रखा, विकारों को खुला प्रवेश दिया, जिससे मेरी अंतरात्मा की शक्तियां कमजोर बन गईं और इस कमजोरी के कारण ही परमात्मा की सेवा मुझे कठिन प्रतीत हो रही है। मैं प्रभु के चरणों में प्रार्थना के माध्यम से केवल शरीर से ही नहीं, परन्तु अपने अंदर की दिव्य-शक्ति को जगाने के लिये परमात्मा को निमित्त बना कर उपस्थित होऊं।

जब विवेक का दीपक प्रकाशित होता है, उस समय उठ कर आगे बढ़ने की शक्ति का संचार हुए बिना नहीं रहता है। यद्यपि प्रभु को इन चर्म-चक्षुओं से देख नहीं सकते परन्तु आंतरिक चिन्तन से यदि उनके स्वरूप का अवलोकन किया जाए तो उनकी शक्तियां अनुभव होने लगती हैं। इसीलिये कवि ने संकेत किया है कि—

अनन्त जिनेश्वर नित नमु.............................।

अनन्त जिनेश्वर की अवस्था का मैं चिन्तन करता हूँ तो उनकी अद्‌भुत शक्ति का पता लगता है। उस अद्‌भुत शक्ति का दर्शन अंतश्चेतना में होता है। यदि व्यक्ति अपने मुंह से उस शक्ति का कथन करना चाहे तो कर नहीं सकता है। मुंह तो नाशवान पदार्थों को व्यक्त करने वाला आत्मा का एक साधन है। मुंह से शब्द उच्चारण किये जा सकते हैं। वचन के माध्यम से ज्योति का कथन किया जा सकता है परन्तु उस अद्‌भुत ज्योति का वर्णन नहीं हो सकता है। शब्द स्वयं पौद्‌गलिक रचना का एक तत्त्व है और शास्त्रीय परिभाषा से भाषा-वर्गणा के पुद्‌गलों को ग्रहण करके छोड़ता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इसी बात का संकेत देता है। जब इन्सान बोलता है तो उसके शब्दों का सिलसिला निरन्तर श्रोता के कर्णगोचर होता है और तभी वह उसके शब्दों को ग्रहण कर पाता है। इस प्रकार मुंह के माध्यम से शब्द-रचना होती है।

जब आत्मिक शक्ति जन्म ग्रहण करके शरीर का विकास करती है, तब वह मुंह के माध्यम से बोलती है। जो शक्ति शब्दों से अपने वचनों का विनिमय करती है, उसको वचनों से देखा नहीं जा सकता है और न उसका पूर्ण रूपेण वर्णन किया जा सकता है। इसलिये कवि का संकेत है कि—

ना कहिये ना देखिए, जांके रूप न रेख।

परमात्मा की शक्ति आंखों से देखी नहीं जाती, यह तर्क से समझी नहीं जाती और मति से पूरी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि ये प्रायः पांच इन्द्रियों और मन के माध्यम के तरीके हैं और वह शक्ति इन्द्रियों

और मन के माध्यम से 'पर' है। कहा भी है—

तक्का तत्थ न विज्जइ, मति तत्थ न गाहिया।

तर्क का इस अद्भुत ज्योति में प्रवेश नहीं है। वह तो एक अनुभूति है। तर्क सही भी होता है और गलत भी हो सकता है। तर्क का कोई विशेष प्रतिष्ठान नहीं होता है। तर्क के माध्यम से व्यक्ति वाद-विवाद कर सकता है परन्तु वह आंतरिक अनुभूति को प्रकट नहीं कर सकता है।

मति का भी वहां पर प्रवेश नहीं है। मति भी उस ज्योति को ग्रहण नहीं कर पाती है। इसका कारण यह है कि पांच इन्द्रियों और मन के सहारे जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, वह ज्ञान तो मतिज्ञान है। मतिज्ञान की शक्ति परावलंबी होनें से इस आत्मा के साक्षात् प्रकाश-पुंज को ग्रहण नहीं कर पाती है। उसको ग्रहण करने के लिये आंतरिक साधना, चरित्रनिष्ठा और सांगोपांग जीवन का स्वरूप आवश्यक है। इनके बिना इस अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं होती है। मति का क्षेत्र सीमित है। जो सीमा के साथ है, वह असीम को पकड़ नहीं सकता है।

जैसी मति की स्थिति है, वैसी ही दृष्टि की स्थिति है। ये नेत्र जिन अवयवों से बने हुए हैं, उनके साथ ही वे अपने सजातीय तत्त्वों को देखते हैं। वे परमात्मा की परम ज्योति को देख नहीं पाते हैं। उसके लिये तो उसके मुकाबले की ज्योति की आवश्यकता है। इसलिये कहा है—

ना कहिये ना देखिये, जांके रूप न रेख।

जिनके रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की योग्यता है, वे भी स्थूल रूप में हैं। बड़ा रूप है। तभी वह देखा जा सकता है और उसका कथन किया जा सकता है। परन्तु अनन्त जिनेश्वर भगवान की जो परम अद्भुत ज्योति है, वह रूप, रस, गंध आदि से रहित है। उसके दर्शन इन चर्म-चक्षुओं से नहीं होंगे और न जिह्वा से उसका वर्णन होगा।

वह ज्योति अनुभव-साध्य है। उस ज्योति को प्रकट किये बिना इन्सान अपनी शक्ति का जैसा चाहिये, वैसा उपयोग नहीं कर सकता है।

यदि वह उस ज्योति को प्रकट कर लेता है तो मानव तन में रहता हुआ दिव्य-पुरुष के रूप में संसार के समक्ष अपनी शक्तियों को रख सकता है। उस दिव्य-शक्ति के प्रकटीकरण के लिये ही कहा गया है कि—

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

(उत्तरा० सूत्र, अध्य. ३२, गाथा २)

मानव यदि उस शक्ति के दर्शन करना चाहता है तो ज्ञान के नाम से जिस तत्त्व का बोध होता है, जिस तत्त्व को पहिचाना जाता है उसको प्रगट करे। यदि समग्र ज्ञान प्रगट हो जाये तो वह उस परम ज्योति के, अद्‌भुत ज्योति के दर्शन कर पायेगा। इसीलिये साधक उस परम ज्ञान को प्रगट करने के लिये और अज्ञान तथा मोह को मिटाने के लिये प्रभु की प्रार्थना करता है। उस चरण-सेवा की कठिनता को देख कर वह हतोत्साह होकर अपनें आप में चिन्तन करता है कि यह सेवा तो तलवार की धार से भी कठिन है। फिर भी हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। उसको साधनें के लिये यदि प्रमुख रूप से मानव अपने विकास के सिलसिले को जारी रखे तो अवश्य ही वह उस शक्ति के निकट पहुंच सकता है।

इसके लिये शरीर ही माध्यम है। शरीर तो देवों के भी है, पशुओं के भी है और नरक के जीवों के भी है। परन्तु वे शरीर इस परम ज्योति को प्राप्त करनें में समर्थ नहीं है। मनुष्य का शरीर ही एक ऐसा विशिष्ट शरीर है कि जिसमें आत्मा की अद्‌भुत ज्योति जगाई जा सकती है। शरीर की प्रक्रिया में इन्सान रात और दिन अपना समय लगा रहा है। परन्तु वह समझ नहीं पा रहा है कि मेरे शरीर की ये प्रक्रियायें शुभ हैं या अशुभ हैं, ये उस परम प्रकाश की ओर चल रही हैं या अंधकार की ओर जा रही हैं। मेरे द्वारा प्रकाश को पाने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है या अंधकार को एकत्रित करने के लिये चेष्टा हो रही है।

यदि चिन्तन सही हो तो जीवन की समस्त प्रक्रियायें वदल

सकती हैं । फिर शरीर का निर्वाह करने के लिये भोजन भी दिया जाये तो उस भोजन को भी माध्यम मान लें कि इस भोजन को मैं शरीर में पहुँचा कर इसके रस से शरीर की पुष्टि के साथ-साथ अन्दर की ज्योति की पुष्टि करूं । इस भावना का संचार यदि मावव के मस्तिष्क में हो जाये तो वह भोजन के विषय में भी सावधान रहेगा । वह इस दृष्टि से चलेगा कि—

"आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं ।" (उत्तरा. अध्य. ३२ गाथा ४)

आप आहार की भी गवेषणा करें । भोजन ग्रहण करें परन्तु वह मित और एषणीय हो । मित का तात्पर्य यह है कि शरीर के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही हो । एषणीय का मतलव है कि वह भोजन शुद्ध प्रक्रिया से बना हुआ हो । शुद्ध प्रक्रिया का तात्पर्य दो तरह से लिया जाता है—एक तो रसोई बनाते समय बनाने वाला विधि के साथ भोजन बनाये और दूसरा यह कि भोजन किस रीति-नीति से प्राप्त किया गया है । अर्थात् भोजन नीति का है या अनीति का है । वह किसी के दिल को चोट पहुँचा कर, दिल को निचोड़ कर प्राप्त किया गया है अथवा उसके मन और मस्तिष्क को सांत्वना देते हुए प्राप्त किया गया है । भोजन जुटाने की विधि नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार की हो सकती है । जिसने नैतिक धरातल के साथ आजीविका का उपार्जन किया है और मनुष्य के दिल को सुख पहुँचाते हुए उसे अपनाया है तो उस इन्सान का भोजन लेना एषणीय है । यदि किसी ने अनीतिपूर्वक कार्य किया है और अनीति के माध्यम से भोजन तैयार हुआ है तो उसको ग्रहण करने वाले मनुष्य के विचारों में परिवर्तन आये विना नहीं रहेगा । भले ही वह व्यक्ति गृहस्थ में रहने वाला हो या साधु-जीवन में रहने वाला हो । हां, यह अवश्य है कि साधु-जीवन की भोजन ग्रहण करने की एपणीय नीति शास्त्रानुसार गृहस्थ की नीति से भिन्न है और गृहस्थ की नीति सामाजिक नीति आदि के ऊपर आधारित है ।

भोजन का असर विचारों की स्थिति के साथ है । विचारों के

परिवर्तन में भोजन निमित्त बनता है। एक व्यक्ति सात्विक भोजन करके साधना में बैठता है और ज्योति को विकसित करने का प्रयत्न करता है तो वह उस साधना में जल्दी सफल होता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति अशुद्ध भोजन करके, तामसी भोजन का सेवन करके साधना में बैठेगा तो वह साधना में पूरा सफलीभूत नहीं होगा। राजसी भोजन करने वाला व्यक्ति भी अन्तर्ज्योति की ओर मुड़ने में कठिनाई का अनुभव करेगा। सात्विक भोजन के साथ साधना का सम्बन्ध जुड़ा हुआ हो। परन्तु सात्विक भोजन भी नीति के द्वारा उपार्जित किया हुआ होना चाहिये।

नीति और अनीति की परिभाषा अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग तरीके की है। सात्विक भोजन की परिभाषा भी सिर्फ अमुक तरह का भोजन ही नहीं है, वनस्पति का रस ही नहीं है, वनस्पति का आहार ही नहीं है। वनस्पति के आहार में भी विवेक की आवश्यकता है और उससे भिन्न अभक्ष्य पदार्थ तो सर्वथा त्यागने योग्य हैं। जो भक्ष्य पदार्थ खाने योग्य हैं, उनमें भी परिमितता हो। आवश्यकता के अनुसार ही उनका ग्रहण हो तो वे सात्विक हैं। यदि अनावश्यक भोजन लिया जाता है तो वह तामसिक बन सकता है। आप चाहे फलों का रस ही समझिये। यह अत्यन्त सात्विक भोजनों की श्रेणी में माना जाता है। परन्तु वह भी यदि सीमा से अधिक ग्रहण कर लिया गया तो वह तामस में परिणित हो सकता है। इसलिये सात्विकता की परिभाषा मित-सीमित आहार से है और सीमित आहार के पीछे भी नीति तथा अनीति का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इन दोनों प्रश्नों की स्थिति से यदि साधक अपने शरीर की प्रक्रियाओं को चलाये तो वह इस मानव तन में अन्तर्ज्योति की उपलब्धि कर सकता है, वह प्रभु की अनन्त सेवा की साधना साध सकता है। परन्तु जरा सी भी गफलत हुई और मानव के मन में भोजन के प्रति कुछ भी आसक्ति आ गई तो फिर उसमें गिरावट आना संभव है।

एक साधक सात्विक, मित और एषणीय भोजन के साथ साधना में तन्मय होकर चला। उसने साधना की शक्ति से अपने जीवन में ज्योति

के कुछ दर्शन भी किये । वह नियत समय पर उसकी आराधना करने लगा और उसे आंतरिक ज्योति की अनुभूति भी होने लगी । उसके लिये यह परम आनंद का विषय था । साधना में चलने वाले साधक के मन में तुष्टि जल्दी आ जाती है, परन्तु वह लापरवाह भी जल्दी ही बन जाता है। उस साधक ने यत्किंचित् ज्योति के दर्शन करके मन में सोच लिया कि मैं तो सब कुछ हो गया । वह लापरवाही के साथ चला और भिक्षा के लिये एक गृहस्थ के यहां पहुँचा । वहां भोजन की सामग्री पर उसकी दृष्टि गई। कुछ मिष्ठान्न भोजन था। साधक के दिल की लालसा आसक्ति के साथ बढ़ी और उसने वहां से वह भोजन ग्रहण कर लिया । भोजन बहराने वाले की भावना में मलिनता चल रही थी और ग्रहण करने वाले साधक के मन में लालसा और आसक्ति की भावना काम कर रही थी । एक इन्सान की भावना का असर दूसरे इन्सान की भावना पर होता है । पदार्थ तो बीच में निमित्त बनता है । बहराने वाले के मन में अनीति का संचार था। अनीति के वायुमंडल में रहते हुए उसने मीठे पदार्थ दिये । उन पदार्थों के निमित्त से उसकी भावना का असर साधक पर हुआ। साधक अपने स्थान पर भोजन लेकर पहुँचा और उसने आसक्ति के साथ भोजन कर लिया ।

नियत समय पर वह साधक साधना के लिये बैठा और अपनी अन्य प्रक्रियाओं को करता हुआ, उस परम ज्योति के दर्शन के लिये लालायित होने लगा । परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी ज्योति की अनुभूति नहीं हो रही थी । पूरी चेष्टा करने पर भी उसके अनुभव में ज्योति तो नहीं आई, परन्तु एक रोती हुई कन्या दिखलाई दी । साधक हैरान हो गया। उसने सोचा कि मेरी कमाई आज नष्ट हो गई । मैं मस्तिष्क से जो चिन्तन कर रहा हूं और इन चिन्तन के क्षणों में जिस अनुभूति में पहुँचना चाह रहा हूं, वह अनुभूति आज गायब हो गई । अरे ! यह रोती हुई कन्या कौन है ? साधक बड़ा दुखी हुआ और गुरु के समीप पहुंचा । उसने गुरुदेव से निवेदन किया—भगवन् ! इतने समय की साधना आज

मिट्टी में मिल गई। मैं जिस ज्योति की अनुभूति करना चाहता था, वह तो लुप्त हो गई और उसके बदले में रोती हुई एक कन्या सामने आ गई।

गुरुदेव विचक्षण थे। उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुसंधान किया और शिष्य से पूछा, "आज तुमने जो भोजन किया, उसमें कौन-से पदार्थ थे?" शिष्य ने कहा, "गुरुदेव! आपके समक्ष रख कर ही तो मैंने भोजन किया था।" गुरुदेव ने पूछा, "ठीक है, परन्तु वे गोलिये लड्डू कहां से लाया?" शिष्य ने कहा, "अमुक गृहस्थ के यहां से लाया था।" गुरु ने फिर पूछा, "तुमने भोजन ग्रहण करने की विधि का ध्यान रखा या नहीं? साधु-जीवन की नीति के अनुसार भोजन ग्रहण किया या साधु-नीति को छोड़कर?"

साधक ने सच्चे दिल से कहा, "गुरुदेव! मेरा मन साधु-जीवन में आहार ग्रहण करने की नीति के विपरीत चला गया। मैं लालच में आ गया, मेरी आसक्ति वढ़ गई। इस दृष्टि से मैंने भोजन ग्रहण किया।" गुरु ने कहा—तुम्हारी भोजन ग्रहण करने की नीति में अन्तर आ गया इसलिये तुम्हारी इस ज्योति को विलुप्त करने का कारण वह भोजन बना और तुम्हारे जीवन में अनीति आ गई। यह भोजन अनीति से ग्रहण किया हुआ है।"

गुरुदेव का चिन्तन चला कि गृहस्थ के यहां भोजन नीति से बना था या अनीति से, इसका भी अनुसधान करना चाहिये। एतदर्थ सम्बन्धित व्यक्तियों से जानकारी की तो मालूम हुआ कि पड़ौस में एक कन्या का विवाह हुआ था। वह कन्या अत्यन्त दुखी होकर ससुराल गई। महात्मा ने पूछा कि ऐसा क्यों हुआ? पड़ौसी ने कहा कि क्या बताऊं, वह गरीब परिवार था। कन्या का जन्म उस गरीव घर में हुआ और समय पर वह विवाह करने योग्य हो गई तो पिता ने उसका विवाह किसी योग्य वर के साथ करने के लिये सोचा परन्तु जहां कहीं भी वह गया, योग्य लड़के वाले तैयार नहीं हुए। वे तो उसकी तरफ न देख कर सिर्फ यही पूछते कि तुम क्या दोगे? परन्तु पिता के पास कन्या के अलावा

देने को था ही क्या ?

कन्या के पिता ने सोचा कि पुत्री का विवाह किया जायेगा तो पड़ौसियों, सगे-सम्बन्धियों और गांव वालों को भी जिमाना पड़ेगा। यदि उन्हें नहीं जिमाया गया तो वे लोग जिन्दगी भर ताना मारते रहेंगे कि एक ही विवाह किया और उसमें भी हमारा तो मुंह तक मीठा नहीं कराया। इस विचार से वह गृहस्थ दुखी था। आखिर उसने एक वृद्ध व्यक्ति को ढूंढ़ा। वह वृद्ध दूसरी शादी करना चाहता था। कोई कन्या उसके लिये मिल नहीं रही थी। वृद्ध ने सोचा कि पैसा देकर इस कन्या के साथ शादी कर लूं। इधर वेचारा गरीव पिता दुखी था और उधर वृद्ध को पत्नी चाहिये थी।

उस वृद्ध सेठ ने इस गरीब को अच्छी रकम दी। यह भी सोचने लगा कि इस धन से मैं सब न्यात वालों को भलीभांति जिमा दूंगा। इस दृष्टि से उसने अपनी पुत्री का विवाह वृद्ध सेठ के साथ कर दिया। उस साठ वर्ष के वृद्ध के साथ उसकी पोती की उम्र की लड़की विवाहिता होकर गई। उस समय उसका कलेजा कितना टूटा हुआ था और वह कितनी दुखी हो रही थी, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। उसका रोना, विलाप करना आसपास रहने वाले व्यक्तियों को भी सहन नहीं हो रहा था। परन्तु सम्वन्धी जी के व्यक्ति इकट्ठे होकर लड्डू खा गये और वह रोती रही तो रोती रही।

जव पड़ौसी ने ऐसी स्थिति का वर्णन किया तो महात्मा को स्पष्ट हो गया कि गृहस्थ के यहां जो भोजन का प्रसंग वना, वह भी अनीति से परिपूर्ण था। यह अत्यधिक अनीति का भोजन था। इस प्रकार से समाज के ऊपर भारभूत रीति-रिवाज जहां प्रचलित हैं तो उस समाज की कमर टूटे विना नहीं रह सकती।

पुराने समय में तो मृत्यु-भोज की भी प्रथा थी। मृत्यु-भोज कराने वाले व्यक्ति समाज के पंच होते थे, विवाह-शादी के प्रसंग पर भी जवरदस्ती भोजन वनवा कर जीमने वाले ये पंच ही होते थे। मैंने मेवाड़

में सुना है कि कभी-कभी कुछ ऐसी तुच्छ प्रकृति के पंच भी होते थे कि जिनको पिता की मृत्यु पर यदि कोई गरीब आदमी नहीं जिमा सका तो वे वाणी के ऐसे तीर छोड़ते थे कि कुछ मत पूछिये। वे कहते, "क्या ऊपर होकर बातें करते हो ? तुम्हारे बाप तो अभी तक 'राखोड़े' में लोट रहे हैं। ऐसा सुन कर उस गरीब के कलेजे पर वज्रपात होता और वह अपना घर बेच कर भी उन पंचों एवं नाते-रिश्तेदारों को भोजन करवा देता था।

इसी अनीति को मिटाने के लिये संतों ने उपदेश दिया है कि कम-से-कम ऐसे जीमने का तो त्याग करो। इसी प्रकार कन्या या वर का पैसा लेकर उससे जो भोजन बनाया जाता है तो वह भोजन भी अनीति का कहा जा सकता है।

नीति और अनीति किसके साथ 'फिट' बैठती हैं ? समाज में कई वर्ग हैं। किसको नीति का वर्ग कहा जाये और किसको अनीति का वर्ग कहा जाये ? इसका चिन्तन करेंगे तो अलग-अलग वर्ग सामने आयेंगे।

समाज में चल रही कुरीतियों के कारण गरीबों को आर्त और रौद्र ध्यान में डाल कर जो भोजन तैयार किया जाता है, वह अनीति का भोजन है। एक व्यापारी व्यापार करता है। वह व्यापार में नीति को छोड़ कर अनीति का अवलंबन लेता है और उस कमाई से जो भोजन बनता है तो वह भी अनीति का भोजन कहा जा सकता है। ऐसा इसलिये है कि उसमें उसकी बुरी भावना चल रही है। यद्यपि भोजन तो पदार्थ है, वह स्वयं नीति अथवा अनीति नहीं होता है। इसी प्रकार पैसा भी नीति-अनीति नहीं है। यह तो नीति-अनीति का निमित्त बनता है। जो व्यापारी मलिन भाव से पैसा कमाता है, उसका भोजन भी अनीति का तामसी भोजन कहा जा सकता है। दूसरे आदमियों को सता कर जो भोजन तैयार होता है, वह भी अनीति का है।

सरकार के खजाने में जो संपत्ति आती है, वह भी नीति-अनीति रूप हो सकती है। यदि जनता के कल्याण का ध्यान नहीं रख कर अंधा-मार पैसा इकट्ठा किया जाता है तो सरकार का वह पैसा भी अनीति

का है। जो कर्मचारी अनीति के तरीके से पैसा ग्रहण कर रहे हैं, वह पैसा भी अनीति का है। फिर वे उससे भोजन तैयार करते हैं तो अनीति के भोजन का प्रसंग बनता है। सरकार अनीति से पैसों को इकट्ठा कर के यदि किसी नौकरी करने वाले को वेतन देती है, परन्तु वह सरकारी कर्मचारी मेहनत करके पैसा ले रहा है, ईमानदारी के साथ मजदूरी कर रहा है, जितना पैसा नियत किया गया है उसके अनुरूप अपना समय लगा रहा है तो उसके ग्रहण करने के पश्चात् वह पैसा नैतिकता का हो जायेगा। एक डाक्टर है, जो किसी के यहां से फीस ले रहा है। यदि वह डाक्टर ईमानदारी से फीस ले रहा है तो वह फीस नैतिकता की है, भले ही उसका पैसा अनीति से इकट्ठा किया हुआ हो।

इसी प्रकार अन्य व्यवसायों के लिये भी समझ लें। एक अध्यापक है और नौकरी कर रहा है। यदि वह सिर्फ पैसे के लालच से ही नौकरी नहीं करता है परन्तु समाज के निर्माण के लिये सेवा की भावना रख कर नौकरी कर रहा है और उसके अनुरूप तनख्वाह ले रहा है तो वह भी नैतिकता की हो जायेगी। इस प्रकार अध्यापक, डाक्टर या सरकारी-कर्मचारी वगैरह का पैसा यदि उनके पास ईमानदारी से आता है तो वह नैतिकता में परिवर्तित हो जाता है।

साधु-जीवन का भी ऐसा ही प्रसंग है। साधु यदि अपनी नीति के साथ चलता है, वह अपने समग्र जीवन को स्व कल्याण और समाज कल्याण के लिये अर्पण करके चलता है, आवश्यकता से अधिक भोजन ग्रहण नहीं करता है, कल के लिये संग्रह नहीं करता है परन्तु जीवन-निर्वाह के लिये ही वह गृहस्थ के यहां से भोजन ग्रहण करता है और साधु के लिये बताये गये ४२ दोषों को टाल कर भोजन ग्रहण करता है तो गृहस्थ के यहां भले ही वह भोजन अनैतिकता का हो परन्तु साधु के लिये वह नैतिकता का भोजन हो जायेगा। जैसे सेठ के यहां अनैतिकता का पैसा था परन्तु डाक्टर ने नैतिकता से फीस ली तो वह नैतिकता का पैसा हो गया। इसी नियम के अनुसार चल कर यदि साधु भिक्षा ले रहा है और भिक्षा

लेते हुए यदि उसकी पदार्थ के प्रति आसक्ति नहीं बंधती है और लोभ में आकर वह अधिक भोजन नहीं लेता है तो वह भोजन नैतिक हो जाता है। इसके विपरीत यदि उस साधु के भोजन में लालसा रहती है तो उसका मानस बिगड़े बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार नैतिक और अनैतिक स्थिति के लिये हर क्षेत्र में सावधानी की आवश्यकता है।

मैं कह रहा था कि साधना की ज्योति की तरफ साधु का ध्यान जा रहा था तो वह क्यों बिगड़ा ? गोलिये लड्डू देख कर उस साधु का मन आकर्षित हो गया और उसने आसक्त होकर भोजन ग्रहण किया। उसने साधु-जीवन की नीति को छोड़ कर भोजन लिया। अतः वह अनैतिकता का भोजन हो गया। जिस समय उसने भोजन ग्रहण किया तो उसकी भावना आसक्ति के साथ चल रही थी। इस कारण उसके मन में विकृति आई। उस कन्या की स्थिति उस परिवार से युक्त थी और परिवार के सदस्य, जो उसे आनन्द देने वाले थे, वे ही समाज की कुरीतियों के कारण अपनी ईमानदारी को न रख सके और उन्हें पैसे के लिये दीवाना बनना पड़ा तो वह भावना साधु की स्थिति के साथ भी जुड़ गई। भावना का भावना के ऊपर असर होता है। अतः साधु की साधना में वह रोती हुई कन्या आई। इसका मतलब है कि गृहस्थ के मन में जो रोती हुई कन्या का नक्शा था, उसका असर साधु के मन पर भी पड़ गया।

आप मलिन भावना से किसी के समीप आकर खड़े रहें। सामने वाले व्यक्ति का मन पवित्र है तो मलिन मन वाले व्यक्ति पर स्वच्छ व्यक्ति की भावना का असर पड़े बिना नहीं रहेगा। काला पदार्थ दर्पण के सामने आये तो उसकी छाया दर्पण में पड़े बिना नहीं रहेगी। उसी प्रकार स्वच्छ दिल का असर मलिन भावना वाले आदमी के ऊपर पड़े बिना नहीं रहेगा। भिक्षा ग्रहण करते समय उस साधु ने वह प्रतिबिंब अपने मन में ले लिया था। उसने कुरीति का भोजन ग्रहण किया। फिर वह साधना करने बैठा तो रोती हुई कन्या उसके सामने आई।

इसका विश्लेषण गुरु ने किया, "भाई, यह जो तुम्हारी साधना बिगड़ी है, तुम्हारी ज्योति विलुप्त हुई है, उसमें निमित्त वह भोजन बना है। तुम्हारी भावना बिगड़ी तो तुम स्वयं अनैतिकता के धरातल पर पहुँच गये। तुम सच-सच कहो, क्या लड्डू ग्रहण करते समय तुमने साधु वृत्ति का ध्यान रखा या आसक्तिपूर्वक भोजन ग्रहण करने की भावना बनाई थी?"

शिष्य ने सरलता से निवेदन किया—"गुरुवर ! सही बात यह है कि उन लड्डूओं पर मेरा मन चल गया और मैंने साधुओं के नियमों का ध्यान न रखते हुए भोजन ग्रहण किया। उस बाई की बात सुन कर मेरे मन में विचार जरूर पैदा हुआ परन्तु मैं लालसा से भोजन लेकर चला आया।"

गुरुदेव ने कहा, "याद रखो, अन्दर की ज्योति को बाकायदा कायम रखना चाहते हो तो अपने दिल में अनैतिकता का प्रवेश मत होने दो। साधु-जीवन की दिनचर्या को व्यवस्थित रखो। गृहस्थ के यहां पहुँचो तो स्थिति का अवलोकन करो। अपनी विधि के साथ भोजन लाओगे तो तुम्हारी साधना कायम रहेगी और यदि अनीति से लाओगे तो वह अवश्य ही नष्ट हो जायेगी।

शिष्य ने उसी वक्त संकल्प किया कि आईदा ऐसा कभी नहीं करूंगा और पूरी विधि के साथ रहूंगा। साथ ही उसने पूछा कि गई हुई ज्योति वापिस मिलने का क्या उपाय है? गुरुदेव ने कहा, "इसका उपाय यही है कि तुम तीन दिन तक तप करो। तुम्हारे पेट में उस भोजन का अंश है, अतः जीवन को मांजने के लिये प्रायश्चित्त स्वरूप तुम इस प्रकार साधना में बैठो कि तुम्हारी बुद्धि के साथ ही तुम्हारे पेट की पाचन-क्रिया भी साफ हो जाये। तुम्हारे पेट में जो तामसिक वृत्ति का आहार गया है, उसकी सफाई होगी तभी वह ज्योति पुनः जागृत हो सकेगी।

गुरुदेव की आज्ञा पाकर उस शिष्य ने ऐसा ही किया। तीन

दिन के पश्चात् उसे अद्भुत ज्योति के दर्शन हुए और वह पुनः उल्लास से प्रफुल्लित हो गया ।

अन्तर्ज्योति की साधना का यह प्रसंग ध्यान में रखने योग्य है । नैतिकता का विषय तलवार की धार से भी कठिन है । इसके ऊपर चलने वाला व्यक्ति थोड़ी भी गफलत करेगा तो गिरे बिना नहीं रहेगा । आज की स्थिति बड़ी विचित्र है । मैं बारीक बात क्या बताऊं ? इतनी बारीकी में इन्सान पहुँचे या नहीं पहुंचे परन्तु उसका ज्ञान तो करना ही है, अपने नैतिकता के धरातल को सुधारना ही है ।

आज किसी के यहां कोई चोरी कर ले और चोरी करके चला जाये। चाहे देखने वाला नहीं हो, परन्तु उसका मन तो उसको स्वयं को नोचता रहेगा कि हाय ! तूने पाप किया और इस पाप का क्या प्रायश्चित्त होगा ? वह जिस क्षेत्र में भी बैठेगा, वहीं उसकी भावना रहेगी कि कहीं मेरी स्थिति प्रकट न हो जाये, चोरी प्रकट न हो जाये । आज व्यापारी-वर्ग के लिये भी क्या कहूं ? अन्य वर्गों की स्थिति भी सुरक्षित नहीं है। अनैतिक भावना का बोलबाला है। आज कुएं में ही नहीं, समुद्र में भांग पड़ चुकी है ।

आज का व्यक्ति अनैतिक क्यों बन रहा है ? सुना जाता है कि आज व्यापारी दूसरे नम्बर की बहियां रखता है तो क्यों रखता है ? व्यापारी तो पहले भी थे और आज भी हैं । क्या पहले के व्यापारी भी दूसरे नम्बर की बही रखते थे ? उन व्यापारियों के पास कभी दूसरे नम्बर का पैसा सुनने में आया क्या ? जहां तक मैं सोचता हूं और ऐतिहासिक पृष्ठों पर खयाल करता हूं तो प्रकट होता है कि उस समय देश की नीति सुधरी हुई थी। व्यापारी-वर्ग और जनता भी प्रायः नीति से रहते थे ।

बाजार में तो क्या-क्या होता होगा परन्तु कभी-कभी सुनने को मिलता है कि धर्मस्थान पर पहुंचने वाले व्यक्ति भी धंधे से बचे हुए नहीं हैं। उन्हें और कुछ नहीं मिलता है तो

ही चुरा कर ले जाते हैं। वे वहां ज्योति लेने जाते हैं या जूतियां लेने जाते हैं !

आज के मानव का मानस इस प्रकार विगड़ा हुआ है कि जितना अधिक उसको उपदेश दिया जा रहा है, उतनी ही कई क्षेत्रों में बुराइयां बढ़ती जा रही हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय अपने वास्तविक लक्ष्य की ओर नहीं जा रहे हैं। वे क्या सोचते हैं ? यदि चंद चांदी के टुकड़ों को इकट्ठा भी कर लिया तो क्या वह ज्योति मिल पाती है ? जब शांति नहीं, भगवान की भक्ति नहीं तो क्यों आप अपने जीवन को मलिन बनाये जा रहे हैं ? आप चिन्तन करें। मैं उनको विशेष रूप से कहना चाहूंगा, जो अपने जीवन में कुछ 'कन्ट्रोल' (संयम) नहीं ला पा रहे हैं और ऐसी अंधाधुन्धी में चल रहे हैं। वे अपने जीवन को तो नष्ट ही कर रहे हैं।

इस नीति में आमूल-चूल परिवर्तन लाने के लिये आध्यात्मिकता की आवश्यकता है। मनुष्य इन तुच्छ पदार्थों की तरफ झुका हुआ है। वह सोच नहीं पा रहा है कि इस मनुष्य-तन में रह कर क्या करना उचित है ? वह सोच ले कि मनुष्य-तन में रह कर परमात्मा की अद्भुत ज्योति का दर्शन करना है तो ठीक तरह से आचरण-व्यवहार किया जाये। अन्दर की अनुभूति को प्रकट करने में जो कोई रुकावट है, उसको छोड़ा जाये। परन्तु यह लक्ष्य स्थिर नहीं होता है, तब तक यह धांधलेबाजी चलती रहती है। अतः मनुष्य को अपना लक्ष्य ठीक तरह से कायम कर के अद्भुत ज्योति की तरफ अग्रसर होना है। परमात्मा के चरणों की सेवा करके वह अद्भुत ज्योति पा सकता है।

ऐसी स्थिति में सुन्दरतम वायुमंडल की आवश्यकता है। इसके लिये सोचता हूं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूं कि जीवन में समता-दर्शन की नितांत आवश्यकता है। यह तथ्य बुजुर्गों, तरुणों, बच्चों और बहिनों के मस्तिष्क में आये। सबका ध्यान इस तरफ केन्द्रित हो। सब अपने जीवन का निर्माण करने की कला सीखें। सभी अनैतिक जीवन

से छुटकारा पाकर साधना में तन्मय हों । यदि साधक इस प्रकार का सुधार करने में लग गये तो तलवार की धार-सा कठिन-मार्ग भी सरल हो जायेगा।



वीकानेर—

सं० २०३०, श्रावण शुक्ला १४